

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ११४

रुद्राध्यायः ।

विष्णुसूरिविरचितभाष्यसंवलितः ।

मारुलकरोपाह्वशंकरशास्त्रिभिः संशोधितः ।

संच

रावबहादूर इत्युपपदधारिभिः—गंडगाधर बापूराव काळे, जे. पी.

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

श्रीमन् 'महादेव चिमणाजी आपटे'

इत्यभिधेयमहाभागप्रतिष्ठापिते

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा प्रकाशितः

शालिवाहनशकाब्दाः १८७९

ख्रिस्ताब्दाः १९५८

(अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वावत्तीकृताः ।)

मूल्यम् रूपकद्वयम् [रु. २]

[illegible]
$$m_{\pi^0} = 137.0359894(21) \text{ MeV} \quad \text{and} \quad \Gamma_{\pi^0} = 7.63(5) \text{ eV} \quad \text{from} \quad \pi^0 \rightarrow \gamma \gamma \quad \text{with} \quad \Gamma_{\pi^0} = 2 \Gamma_{\pi^0 \rightarrow \gamma \gamma}.$$
[illegible]

Figure 1. The effect of the number of trials on the mean number of correct responses. The number of correct responses was significantly higher for the 10-trial condition than for the 5-trial condition. Error bars represent the standard error of the mean.

$$\left\{ \left(\frac{1}{\sqrt{2}} \begin{bmatrix} 1 & 1 \\ 1 & -1 \end{bmatrix} \right)^n \begin{bmatrix} 1 & 0 \\ 0 & 1 \end{bmatrix} \right\} = \left\{ \frac{1}{\sqrt{2}} \begin{bmatrix} 1 & 1 \\ 1 & -1 \end{bmatrix} \right\} = \left\{ \frac{1}{\sqrt{2}} \begin{bmatrix} 1 & 1 \\ 1 & -1 \end{bmatrix} \right\}.$$
[illegible]

Journal of Management Education 30(6)p.789-806
© The Author(s) 2006

1. *Pharmaceutical industry* – The pharmaceutical industry is a major contributor to the U.S. economy, with sales of over \$200 billion in 2000. The industry is highly competitive, with many firms competing for market share. The industry is also highly regulated, with the FDA overseeing the safety and efficacy of drugs.

2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 2659, 2660, 2661, 2662, 2663, 2664, 2665, 2666, 2667, 2668, 2669, 2670, 2671, 2672, 2673, 2674, 2675, 2676, 2677, 2678, 2679, 2680, 2681, 26

[illegible]

Journal of Interpersonal Violence 26(10)

$\nabla_{\mu} \cdot \beta = 0$

रुद्राध्यायस्य भूमिका ।

पायादपायाज्जगदीश्वरो नः ।

दधानमेकादशधा विभक्त—

देहं विशुद्धस्फटिकप्रकाशनम् ।

तेजोनिधिं शूलिनमिन्दुमौलिं

विचिन्तयेत्तत्र सदैव रुद्रम् ॥

रुद्रं संसाररुद्रं शोकं द्रावयतीति रुद्रश्चराचरगुरुर्महेश्वरस्तत्तावकोऽध्याय-
एकार्थकविषयसमाप्तिद्योतको भागविशेष इति व्युत्पत्तेः कृष्णयजुर्वेदीयतैत्ति-
रीयसंहितायां चतुर्थकाण्डे पञ्चमः प्रपाठकः 'नमस्ते रुद्र मन्त्रवे' इत्यारभ्य
'जम्भे दधामि' इत्येतदन्त एकादशानुवाकात्मको रुद्राध्याय इत्युच्यते ।
तथा चोक्तं तदुपोद्धाते सायणाचार्यैः—'रुद्राध्याये पञ्चमे तु' इति ।
पञ्चमप्रपाठकरूपे रुद्राध्याये त्विति तदर्थः । तथा नमस्ते रुद्रेत्यादिनमका-
ध्यायं व्याख्यायोक्तम्—'तमिममेकादशानुवाकात्मकं रुद्राध्यायं विनियुङ्क्ते'
इति चेति ।

नन्वेवं वैदिकप्रसिद्धिविरोधः । वैदिकसंप्रदाये, नमकचमकसंज्ञके प्रपाठ-
कद्वयं मिलित्वा 'रुद्राध्यायः' इति हि प्रसिद्धम् । अत एव स्वतन्त्रे रुद्रा-
ध्यायग्रन्थे चमकनिरूपणं संगच्छते । अन्यथा तदसंगतं स्यात् । इति चेदु-
च्यते । नमकशब्देन व्यवहियमाणः पञ्चमप्रपाठक एव रुद्राध्यायः । निरुक्त-
सायणाचार्योक्तिं प्रामाण्यात् । नमकान्तर्गतप्रत्येकानुवाकव्याख्यानसमाप्तिपट्टि-
कायां 'पञ्चमप्रपाठके रुद्रभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः' इत्येवं रीत्या रुद्रशब्दो-
ल्लेखसहस्रतात् 'चमकान्तर्गतप्रत्येकानुवाकव्याख्यानसमाप्तौ सप्तमप्रपाठके चम-
कभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः' इत्येवं रीत्या रुद्रशब्दमप्युज्यैव भेदेन निर्देशाच्च ।
यदि तूभयं नमकचमकं मिलित्वा रुद्राध्यायशब्दार्थः स्यात्तदा चमकानुवाक-
समाप्तिपट्टिकायामपि 'रुद्रभाष्ये चमकाध्याये प्रथमोऽनुवाकः' इत्येवं रुद्र-

शब्दोल्लेखोऽवश्यं कृतः स्यात् । यतश्चोभयत्र नमके चमके च भेदेनोल्लेखं करोति तस्मादेवं ज्ञायते यन्नमकस्यैव रुद्राध्याय इति व्यवहारो न चमकस्येति । अत एव 'एकादशगुणान् रुद्राञ्जपित्वा रुद्रतां व्रजेत्' इत्यादौ बृहत्पराशराद्यैश्चमकं विनैव -रुद्राध्यायमात्रस्यैकादशधाऽऽवृत्तिरुक्ता संगच्छत इति केचिदाहुः ।

तत्र । नमकचमकयुगलमेव हि रुद्राध्यायः । रुद्रस्तावकत्वे सत्येकार्थकविषयसमाप्तिद्योतकभागविशेषत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् । युज्यते चैतत् । तथा हि रुद्रस्य जपे होमेऽभिषेके च विनियोगः श्रुतिस्मृत्यादौ दृश्यत इत्यतः 'पञ्चाङ्गरुद्राणां जपहोमार्चनविधिं व्याख्यास्यामः' इति बौधायनापस्तम्बाद्यैः प्रतिज्ञाय जपादिषु रुद्रस्य विनियोग एवमभिहितः । जपहोमार्चनविषयकत्वेन विविधोऽप्ययं रुद्रः प्रत्येकं पञ्चधा भवति । रूपं रुद्रो रुद्री महारुद्रोऽतिरुद्रश्चेति । तत्र नमकचमकमात्रमुभयं रूपम् । रुद्राध्यायस्वरूपमित्यर्थः । नमकचमकयुगलस्य क्रमेण पठनं सरुद्रावर्तनमिति यावत् । तदुक्तं—'नमस्ते रुद्राग्नाविष्णू इत्यध्यायद्वयेन च । आवर्तनमिति प्रोक्तम्' इति एकादश नमकानुवाकान् पठित्वा चमकानुवाकमाद्यं पठेत् । पुनस्तान् पठित्वा द्वितीयं चमकानुवाकं पठेत् । इत्येवमेकादशावृत्त्या रुद्रो रुद्रैकादशिनीति चोच्यते । तदुक्तम्—'एकः पाठो नमस्तेऽस्य ह्यनुवाकः परस्य च' इति । तैरेकादशरुद्रै रुद्री लघुरुद्र इति चोच्यते । तदुक्तं—'तैरेकादशमी रुद्रैर्लघुरुद्रः प्रकीर्तितः' इति । तैरेकादशभिर्महारुद्रः । 'तदुक्तं—एकादशभिरेतैस्तुमहारुद्रः प्रकीर्तितः' इति । एकादशभिर्महारुद्रैरतिरुद्रः । 'तदुक्तं—'एकादशमहारुद्रैरतिरुद्रो बुधैः स्मृतः' इति ।

अत्र सर्वत्र जपादौ नमकचमकयुगलस्य विनियोगाभिधानात्तादृशाध्यायद्वयस्यैव रुद्रशब्दार्थत्वं निर्विवादं प्रतीयते । यदि तु पूर्वपक्षयुक्तरीत्या नमकस्यैव रुद्रशब्दार्थत्वं स्यात्तदा रुद्रविनियोगं प्रकृत्य नमकचमकाध्यायद्वयस्य विनियोगाभिधानं बौधायनापस्तम्बादिभिः कृतमत्यन्तानुचितं स्यात् । तस्मान्नमकचमकाध्यायद्वयस्यैव मिलितस्य रुद्राध्याय इति व्यवहारः सर्व-

जनीनः सिध्यति । अत एव च रुद्रभाष्ये नमकव्याख्यानवच्चमकव्याख्या-
नमपि नासंगतम् ।

नन्वेवं चेन्नमकस्यैव रुद्रशब्दार्थत्वं स्वीकृत्योक्तायाश्चमकं विनैवैकादशधा
रुद्रावृत्तेः का गतिरिति चेत् । वियदुपसंहान्यायेन तत्रापि चमकप्राप्तेर्दुर्वार-
त्वात् । छान्दोग्ये ' तत्तेजसोऽसृजत ' इत्यादिना त्रयाणामेव तेजोबन्धानामु-
त्पत्तिः श्रूयते । तैत्तिरीयके तु ' तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः '
इत्यादिना तेजोबन्धोपेक्षयाऽधिकयोराकाशवाय्वोरुत्पत्तिर्दृष्टा । तथा चाऽऽका-
शतेजसोरुत्पत्तिप्राथम्ये विरोधः । किमाकाशः प्रथममुत्पन्नस्तेजो वेति ।
एतद्विरोधपरिहाराय छान्दोग्यश्रुतावाकाशवाय्वोरुपसंहारोऽभिहितः शांकरभाष्ये वि-
यदधिकरणे । आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तत्तेजोऽसृणतेति । सोऽमुपसंहारन्यायः ।
तद्वदत्रापि तत्तन्मकपाठान्ते चमकाद्याद्यनुवाकं क्रमेण प्रपठचेत्येवंरीत्या रुद्राणां
नमकानामेकादशधाऽवृत्तिरिति व्याख्येयमिति तात्पर्यम् ।

अथवा बृहत्पराशराद्युक्तं प्रयोभान्तरमेवेदं नत्वेकादशिनीस्वरूपम् । रुद्रै-
कादशिनीमहारुद्रादिप्रकारामत्रानुक्तेति शान्तिरत्ने (पृ० ७७) स्पष्टम् ।

नन्वेवमपि सायणाचार्यैरनुवाकव्याख्यानसमाप्तौ रुद्रैकदेशे नमके रुद्रभाष्य
इत्येवं रुद्रशब्दप्रयोगः कथं कृत इति चेत्तत्रोच्यते । समुदायवृत्ताः शब्दा
अवयवेऽपि वतन्ते । यथा पटकदेशे दग्धे पटो दग्ध इत्येवं समुदायवृत्तस्य
पटशब्दस्यावयवेऽपि प्रयोगः । यथा वा ग्रामैकदेशे पलायिते ग्रामः पला-
यित इत्येवं ग्रामशब्दस्य ग्रामैकदेशे प्रयोगो लोकप्रसिद्धस्तद्वदत्रापि नमक-
चमकयुगलात्मकसमुदायार्थप्रतिपादकस्य रुद्रशब्दस्य तदेकदेशे नमके गौणः
प्रयोग इति बोध्यम् ।

तस्यास्य रुद्राध्यायस्य कर्मकाण्डे पाठात्, ' चमकं नमकं चैव पौरुषं
सूक्तमेव च । नित्यं त्रयं प्रयुञ्जानो ब्रह्मलोके महीयते ' इति स्मृतेश्च कर्म-
साधनत्वमवगम्यते । ज्ञानहेतुत्वमप्यस्य कैवल्योपनिषदि दृश्यते—अनेन ज्ञानमा-
प्नोति संसारार्णवनाशम् । तस्मादेनं विदित्वैव कैवल्यफलमश्नुते ॥ इति ।

यद्यप्ययं रुद्राध्यायः केवलं पाठमात्रेणैवाभीष्टफलदो भवति तथाऽपि—
यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्धते । अनन्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति

कहिंचित् । इति यास्कोक्तेरर्थानभिज्ञस्य निन्दितत्वात् ' योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ' इत्यर्थज्ञस्य पापदाहस्वर्गप्राप्त्यादिसकलभद्रावाप्तिकथनेन स्तुतत्वात् ' यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति ' इति छन्दोगैः केवलमन्त्रपाठपूर्वककर्मानुष्ठानापेक्षयाऽर्थज्ञानसहिते कर्मानुष्ठाने फलातिशयाभिधानाच्चार्थज्ञानं सुतरामावश्युकमित्यालय्य सायणाचार्यैः कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहितायां भाष्यं व्यरचि । तदन्तर्गतमेवेदं रुद्राध्यायभाषिति प्रागुक्तमेव ।

ननु यदि चतुर्वेदभाष्यकृद्भिः सायणाचार्यै रुद्राध्यायोपरि भाष्यं लिखितं तर्हि किमर्थमयं विष्णुसूरीणां भाष्यप्रणयनप्रयास इति चेच्छृणु । सायणाचार्यैः कर्मपरतयाऽयं रुद्राध्यायो व्याख्यातः । तदुक्तं तैरेव तदुपोद्धाते—इह कर्माङ्गता यादृग्वर्णिता ब्राह्मणेन ताम् । बोद्धुं शब्दार्थमात्रस्य विवृतिः क्रियते स्फुटा ॥ इति । विष्णुसूरिभिस्त्वध्यात्मपरतयाऽयं लापित इत्यस्ति विशेष इति कृत्वा सफलोऽयं प्रयासः ।

नन्वध्यात्मपरतया व्याख्याने किमस्मिन् रुद्राध्याये निरुपाधिकः स्तूयते सोपाधिको वा ? नाऽऽद्यः । यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह ' इति श्रुत्या निरुपाधिकस्य वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानेन स्तुतिविषयत्वात्यन्तासंभवात् । द्वितीयेऽपि किं जीव ईश्वरो वा स्तूयते ? । नाऽऽद्यः । स्तोता हि खलु जीवः प्रसिद्धः । यदि स्तव्योऽपि जीवः स्यात्तर्ह्येकस्यैव विरुद्धकर्तृत्वकत्वधर्मसमवायप्रसङ्गात् । द्वितीयपक्षेऽपि किं त्रिनेत्रत्वशशिशेखरत्वविशिष्टव्यक्तिविशेषः कैलासवासी श्रीरुद्रः स्तूयत आहोस्विद्विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिरीश्वरः ? । नाऽऽद्यः । यथाश्रुते तथा प्रतीयमानत्वेऽप्यध्यात्मपरतया एदानां योजने तथाऽप्रतीतिः । ' एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वाणमाहुः । एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ' इत्येवमादिश्रुतिषु मायोपाधिरीश्वरस्यैव सर्वस्तव्यमूर्धाभिषिक्तत्वेन प्रतिपादनात् । तस्मादध्यात्मपरतया व्याख्याने सति विष्णुसूरिरुक्तेऽस्मिन् रुद्रभाष्ये मायोपाधिरीश्वर एव स्तूयत इति सिध्यति ।

नन्वस्य रुद्राध्यायस्य यथाश्रुतार्थं शशिखण्डमण्डनत्वादिविशिष्टशिवस्व-

रूपस्तावकत्वं परित्यज्याध्यात्मपरतया व्याख्याने किं बीजमिति चेच्छृणु साव-
धानतया । यथाश्रुते स्तेनानां स्तायूनामारण्यानां मुष्णतां कुलुञ्चानां पतये
नम इत्यादिपदानामर्थालोचने भगवतः श्रीशिवस्य महत्त्वभङ्गः स्वारस्यभङ्ग-
उपासकानामानन्दभङ्गश्च स्यात् । तथा—आसीनेभ्यः शयानेभ्यस्तिष्ठद्भ्यो
धावद्भ्य इत्यादीनां स्वभावोक्त्यनुकारमात्रत्वेन तथा तक्षभ्यो रथकारेभ्य
कुलालेभ्य कर्मारेभ्यश्च वो नम इत्यादीनां तत्तज्जात्यनुवादेन स्तुतिर्वा निन्दा
वेति संशयास्पदतैव स्यात् । न च सर्वतादात्म्यवर्णनेन रुद्रस्य स्तूय-
मानत्वान्न दोष इति वाच्यम् । सर्वतादात्म्यवर्णने हि सामान्यवचनं भवति ।
‘यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या आन्तरः’ इति सामान्येनापि तत्सिद्धेः ।
यथा वृक्षरूप इत्युक्तौ पुष्पफलादिरूपत्वमर्थत एवाऽऽपन्नं भवति । इह
तु वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्य इत्युक्त्वा पुनः पर्ण्याय पर्णशद्याय, इति विशिष्य
प्रतिपादनमनर्थकमिव प्रतिभाति । वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्य इत्यस्य वृक्षरूपोऽ-
यं रुद्र इति तात्पर्यम् । पर्ण्याय पर्णशद्याय, इत्यस्य च पर्णरूपः पर्ण-
संघातरूपोऽयं रुद्र इत्यर्थः । तथा च वृक्षरूपोऽयं रुद्र इत्युक्तावर्थत
एव पर्णरूपोऽयमित्युक्तं भवतीति पर्ण्यायेत्यादि पुनरुक्तमिव प्रतीयत इति
यावत् । निरुक्तपदानां विष्णुसूरिकृतोऽर्थो नमकेऽष्टमनवमानुवाकयोर्दृष्टव्यः ।
अपि च स्तुतिर्हि द्विविधा । यथार्थाऽयथार्था चेति । तत्र स्तोतव्येऽर्थे
विद्यमानामेव गुणानां वर्णनं यथार्था स्तुतिः । यथा—‘यो रुद्रो यो
अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विशेष तस्मै
रुद्राय नमो अस्तु’ इत्यादिका । अविद्यमानानां गुणानां वर्णनमयथा-
र्था । यथा—त्वमिन्द्रोऽसि वरुणोऽसि, इत्यादिरूपा । नच तावन्निरवद्ये
परमेश्वरे तत्स्करत्वादिधर्माः स्तुतिविषयत्वेन युज्यन्ते । उपाधिधर्मास्ते यद्यु-
पहितेऽपि प्रयुज्यन्ते तर्ह्यध्यारोप एव स्यान्न स्तुतिः । इष्टापत्तिरेवेति चेत्
हन्त तर्ह्यध्यारोपापवादप्रक्रिययाऽध्यात्मपर एवायं रुद्राध्याय इत्यापद्यते ।
किंच सकलोऽपि वेदोऽध्यात्मपर एवैत्यद्वैतिनां सिद्धान्तः । स्थूलदृशः केचन
तस्य कर्मपरतां वर्णयन्तीत्यन्यदेतत् । तस्मादध्यात्मपरतयाऽस्य रुद्राध्यायस्य
व्याख्यानं नातीवासंगतम् ।

नन्वे चेद्वास्तवग्रन्थे कथं रुद्राध्यायः कर्मपरत्वेनोक्तः । कथं च सायाणाचार्यैरपि कर्मपरत्वेनास्य व्याख्यानं कृतमिति चेत् । सहसैवातिसूक्ष्ममध्यात्मपरत्वं बोद्धुपसमर्थानां स्थूलदृशां दृष्ट्यनुसारेणैव तथोक्तं तथा व्याख्यातं चेत्यवेहि । तदुक्तं मधुसूदनसरस्वतीभिः स्वरुते प्रस्थानभेदे—‘ नहि ते मुनयो भ्रान्ताः, सर्वज्ञत्वात्तेषाम् । किंतु बहिर्विषयप्रवणारामापाततः पुरुषार्थे प्रवेशेन संभवतीति नास्तिक्यवारणाय तैस्तथा तथा भेदाः प्रदर्शिताः ।’ इति अध्यात्मपरतयेदं व्याख्यानं लक्षणाद्युत्तानार्थत्याघक्लिष्टकल्पनाद्याश्रयेण पदानां संगतिप्रदर्शने क्लेशावहत्वान्नातीव सुगममित्यास्तां तावत् । सोऽयं विष्णुसूरिश्चत्वारिंशतः संवत्सरेभ्यः प्राङ्मिरजाभिधायं पट्टवर्धनराजधान्यां तपस्विनोर्मातापित्रोरीश्वरप्रसादाल्लब्धजन्माऽतिमेधावी वैद्योपाभिधः कश्चन पण्डित आसीदिति कर्णोपकर्णिकया श्रूयते । अस्य रुद्रभाष्यस्याऽऽदर्शभूतमेकमेव पुस्तकम् । तच्च हस्तलिखितम् । तादृशमपि द्वितीयं पुस्तकं प्रणेत्रा लेखकद्वारा नैव संपादितमिति परिशोधान्तेऽवगतम् । विषयश्चास्यातिगहनोऽध्यात्मम् । तदपूर्वस्यास्य ग्रन्थस्य संशोधनकर्माणि प्रवृत्तस्य मम स्थले स्थले यत्कलितमास्ति तदावेदनेनानुगृह्णन्तु मामानन्दाश्रमग्रन्थावलीग्राहका दयालवो विद्वांस इति श्रीसच्चिदानन्दचरणयोः संप्रार्थयते—

माहलकरोपाहवः शंकरशास्त्री—भारद्वाजः ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

विष्णुसूरिकृतभाष्यसहितः—

रुद्राध्यायः ।

ॐ प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं शान्तं चतुर्थं मन्यन्त इत्यतो रुजं संसाररूपं
रुजं द्रावयतीति रुद्र आत्मा शरीरिणां शास्त्रयोनित्वोदिलिङ्गैरवसीयते । नाराय-
णादिरप्येवमिति चेद्वाढमनुमन्यामहे । किमिति नामविशेष आग्रहो नाम गोत्रमिति
च श्रुतिर्निर्विशेषमेव परं ब्रह्म कारणत्वेनोपादिदेश । क्वचिदुपासनादौ वैश्वानरेन्द्रा-
दिदेवतानानात्वमेकस्यैकं सन्तं बहुधा कल्पयन्त्याग्निं यमं मातरिश्चानमाहुस्तिथेवमा-
दिभ्यस्तत्र च सवितर्यहोरात्रे इव नामरूपे अविद्यया कल्पिते न परमार्थसती त-
द्विरुद्धस्वभावत्वाच्छुक्तिरजतादिवत्सेषमविद्या भ्रमावरणविक्षपाद्युपादानभूता निरव-
यवस्याप्यवयवरूपिणी नैसर्गिकी शक्तिरग्न्यादिशक्तिवत् । यथाऽग्न्यादिः स्वगतदा-
हशक्तिं न प्रत्यभिजानाति । विपक्षे स्वयमपि दाहमाछेन्न पुनः साऽपि तं दहति ।
तथात्वादेवमात्मा निःसामान्यपरानन्दानुभूतिस्वरूपः स्वाभाविकीं मायाशक्तिं नाभि-
जानाति । ज्ञातृत्वायोगात् । अज्ञातत्वमसिद्धं तत् एव ज्ञानाज्ञानविलक्षणत्वे सति
ज्ञानरूपत्वात् । सति तस्मिन्ज्ञानन्त्यानुपपत्तेः । नापि सा शुद्धं प्रतिबध्नाति ।
प्रत्युत लोकैरेवानुभूयते । लोकाश्चाहंकारादयस्तैर्हि साक्षित्वभोक्तृत्वादयः प्रत्यगा-
त्मनीव परमात्मनि नामरूपादिकमध्यस्यते । तावेतौ प्रत्यगात्मपरमात्मानौ नाममात्र-
भेदौ मलिनबुद्धिभिः पृथगपादिश्येते । विजिज्ञापयिषितोऽयमात्मा वेदानागद्वितीयस्व-
रूपो न यत्र बन्धमोक्षौ नित्यमुक्तस्वभावत्वात्तथाऽपि लोकाध्यारोपापोहार्थतया न
महावाक्यार्थोपदेशवैयर्थ्यमसङ्गः । सर्वा अप्येवं श्रुतधोऽध्यारोपापोहार्था इत्यव-
सेयम् । किंच निर्घर्मक आत्मा कथं जगदुपादानमित्यर्थे संदिहानैस्तस्य विचित्र-
शक्तित्वानभिज्ञैर्लोकैः कल्पितेयमविद्या तानेवाऽऽवृणोति । मायावी च स देवात्म-
शक्तिं स्वगुणैर्निगूढामित्येवमादिश्रुतिशतेभ्यो नैसर्गिकत्वं च प्रकृतेर्न स्वसमवेतत्व-
मपि तु स्वानिवार्यत्वं मनुभूयते च साक्षिणो ज्ञानसाधकत्वं नतु बाधकत्वम् । अथवा
स्वास्पर्शित्वे सति स्वनियतप्रकाश्यत्वं त्रिगुणात्मिका चेयं प्रकृतिर्न स्वं ब्रह्म स्पृश-
ति । प्रकाश्यते च तेनैव । तत्रेदमुक्तं स्वरूपसती चेयं ब्रह्मरूपत्वान्न वऽभिचरति
न वा ग्लायते (?) तूष्णीकत्वादिति । विगतावरणविक्षेपदोषायाः सत्त्वमात्रशरी-

रायाः प्रकृतेः प्रतिबन्धकत्वायोगाद्विदेहावस्थायामपि तत्सत्त्वे न विरोध इत्याशयः। पुनरावरणाद्यभाव एव तच्चाश इत्येके । स्वरूपत एवेत्यपरे । इदं तु बोध्यं माया-
नियन्तुर्नित्यमुक्तस्यापि परात्मनो मायाविजृम्भितावरणसहकृतान्तःकरणरूपोपाधिरेव
जीवभावे हेतुस्तन्निरासे न किञ्चिदसमञ्जसं संसारबीजानन्त्याच्च । सा न क्षरती-
त्यतोऽक्षरात्परतस्तु स कूटस्थ उच्यते इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिष्वक्षरेत्युच्यते । तस्य च
परात्परज्योतिषो निर्विकल्पतया स्वतो ज्ञातृत्वायोगाच्च मनोबुद्ध्यहंकारचित्तरूपा-
न्तःकरणवृत्तिविशेषरूपदृष्टिवैचित्र्येण नानात्वमिव प्रबुद्धमूढभावादिसर्वमुत्पद्यते ।
तत्रोक्तदृष्टेः सर्वोन्मीलनं जाग्रदर्थोन्मीलनं स्वप्नोन्मीलनं सुषुप्तिरित्येव त्रिगुणात्म-
कानि त्रीणि नेत्राणि यस्य स एष सर्वोऽपि जीवस्त्र्यम्बक एव । भूतं भवद्भविष्य-
द्विरितृणवृक्षादिकमपि सर्वं रुद्र एव । तस्य सार्वान्त्र्याभिधित्तयेयमुपनिषत्प्रवृत्ता ।
तेदत्र निरवधिकदयाम्बुधिर्बेदपुरुषः प्रज्ञावत उपशिक्षयन्परमेश्वरं प्रार्थयते । तत्रेय-
माद्या क्रक्—

हरिः ॐ

नमस्ते रुद्र मन्यवे उतो त इषवे नमः ।

नमस्ते अरतु धन्वने बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

हे रुद्र ते त्वत्संबन्धिने मन्यवे मायाशक्त्यै नमः । मन्युर्दैन्यं परमात्मनो हि
मायासंवाधादेव जीवमावादि दैन्यमनशया शोचति मुह्यमान इति श्रुतेः । उतो
अपि च ते त्वदंशाय इषवे जीवाय नमः । तस्यापि त्वदभिन्नत्वात् । 'प्रणवोऽस्य
धनु मोक्तं शरो जीव उदाहतः' इति स्मृतोः । धन्वने प्रणवात्मकाय तस्य
चाऽऽधारादिस्थानगतदशविधध्वनिरेव टंकारः । सुषुम्नादित्रिरावृता रज्जुरित्यलं क-
र्मस्वभावसहकृतकाल एव धानुष्क इत्येवं यथायथामूह्यम् । अथेदृशबाणलक्ष्यभू-
तस्य तव बाहुभ्यां धनुर्बाणोपेतान्त्र्यां नम इत्यर्थः । बाहू चात्र विक्षेपावरणशक्ति-
लिङ्गेनपादानतया जीवभावस्य तदधीनत्वात् । धर्माधर्मौ वा तदनुसारेण सुखदुःखे
नियते प्रपद्यते सर्वो लोको दक्षिणोत्तरमागौ वा धर्ममोक्षादिप्रापकत्वात्तयोर्ध्याश्रु-
तेऽत्र स्पष्ट एवार्थ इति न व्याख्यातः ॥ १ ॥

या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनः ।

शिवा शरण्या या तव तया नो रुद्र मृडय ॥ २ ॥

या त इषुरिति । शरा जीवास्तिष्ठन्ति यत्पां सा शरव्या माया । स्पष्टम-
न्यत् ॥ २ ॥

ननु शुद्धे वस्तुनि कथं वेदाः प्रवर्तन्ते । यदि प्रवर्तेरन्कथं वा शुद्धत्वमित्यतो
वेदवेद्यतया विशुद्धसत्त्वप्रधानवासुदेव एव जगत्कारणमिति चेन्न । निर्विशेषाभि-
धायकशब्दव्याकोपपत्तेः । यदि कश्चिद्वस्तुनि विशेषोऽभ्युपगम्यते कुप्येरस्तर्हि
सत्यं ज्ञानमित्यादिश्रुतयः । न च गुणवत्त्वमर्थो वतेरश्रवणात् । विपक्षे श्रुत्यन्तर-
विरोधाच्च । नहि ' शुद्धं दृश्यम् ' यत्तद्वेश्यमिति श्रुतेर्वृत्तिविषयस्य मिथ्यात्वा-
त्तदविषयत्वमेवाऽऽत्मनः । न च शुद्धविषये संदेहः स्यादिति वाच्यम् । वृत्तेः स्वो-
पहितचैतन्यस्वरूपपरिचयेन तदभिन्नाखण्डं चिद्विज्ञानोपपत्तेः । नखनिकृन्तनादिवत् ।
यथा पृथिवीगतसकलकाष्णायसाज्ञानेऽपि नखनिकृन्तनज्ञानेनाशेषमभिज्ञायते । तथा
चरमवृत्तिः स्वोपहितं परिच्छिन्नमपि चैतन्यं पिषयीकुर्वती तदभिन्नं शुद्धमपि
विषयी करोति । न चाभेदविज्ञानाभावेः । स्वग्रहणकाले स्वाभेदस्यापि ग्रहणा-
त् । संवादिन्यायेन मण्यादिवत् । मणिप्रभां मणिबुद्ध्या पश्यन्परमार्थतो भ्रान्तोऽपि
यथा तद्ग्रहणकाले मणिमुपलभते । तथा वृत्तेः पूर्णोपलम्भोऽपि । नन्वात्मनो ज्ञा-
तृत्वाभावे कथमीक्षणं श्रुत्युक्तं संगच्छते । निर्विकारत्वाच्च । निर्विकारश्चायमात्मा
नेक्षणविकारं लब्धुमर्हति । अद्वितीयश्च, न च तद्वितीयमस्ति । येनायं विकार-
मुपलभताम् । तन्न । मायिकत्वश्रवणात् । मायावी ह्ययमात्मा श्रूयते । मायिनं
तु महेश्वरमित्येवमादिषु । न च द्वैतापत्तिरविज्ञातानुकूलत्वादिगुणोपपन्नस्य प्रधानस्य
द्वित्वाप्रयोजकत्वात् । वृत्त्या यद्यपि तदीयगुणास्तत्कार्याणि चोपलभ्यन्ते तथाऽपि
स्वाज्ञातत्वं तदर्थः । अनुकूलत्वं च यथार्थकर्तृत्वात् । यच्चेदं देवदानवाद्यनेक-
जीवसमवायं ब्रह्माण्डं तद्यथावदेव सुखदुःखादिकं प्रतिपद्यते । न तत्र विपर्यय-
गन्धोऽपि । अन्यथा जगद्विप्लवप्रसङ्गात् । सैवास्य शक्तिः सत्यत्वात्सत्यः सं-
कल्पः परमात्मनः स सर्वरसः सर्वगन्धः सत्यकाम इत्येवमादिषु श्रुतिषूच्यते ।
यच्च ज्ञानसमवेत आत्मा जगदुपादानमेक एव परमेश्वरस्तद्विपरीतधर्माणो जीवा
विभवश्च भिन्नाश्च द्वा सुपर्णेत्यादिश्रुतिभ्य इति । तन्न । तत्त्वमसीत्यभेदश्रवणात्
समवायासिद्धेश्च । विपरीतधर्मत्वं चासिद्धं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म य एष आत्मा
ह्यन्तर्ज्योतिरिति च समानधर्मत्वश्रवणात् । द्वयोर्विभ्वोरेकत्र समावेशायोगे बहूनां
सुतरां तदयोगात् । आधाराधेयत्वकल्पनायामतिप्रसक्तेश्चेति । न च विरुद्धधर्मश्च-

वणत्वव्याकोपः । औपाधिकत्वमादाय तदुपपत्तेः । किंच यदि जीवादन्ध ईश्वरः स्यात्किमात्मकस्तमीशीत । नह्यसंबन्धेन कश्चन नियन्तुं शक्यते । तथा सति प्रबलदुर्बलन्यायप्रसङ्गः । यथैव प्रबलेन दुर्बलो बाध्यते न तत्र धर्मलेशोऽपि । नह्येतदस्ति सर्वधर्मप्रवर्तके सर्वेश्वरे । तत्तादसंगतोऽयं भेदवादः । यच्च निर्विकारस्येक्षणोसंभवान्मायाया एव तन्मुख्यं वाच्यम् । तथा जगत्कर्तृत्वादिकमपीति । तन्न । तस्मायःपिण्डदृष्टान्तेन प्रागेव निराकृतत्वात् । अपि च न केवलस्याऽऽत्मन ईक्षणमुपपद्यते । निर्विकारत्वात् । नापि केवलप्रधानस्य । जडत्वात् । नाप्युभयोः । सुप्तावदर्शनात् । तत्र वृत्तित्रयसत्त्वेन परामर्शस्यान्यथैवोपपत्तेश्च । ‘ स ऐक्षत बहु स्यामिति , च जगत्सर्जनादिसंकल्पाः सत्या एव न जीवसंकल्पवत्क्वचिद्व्याभिन्नरन्ति तत्रेदमाशङ्क्यते । समाष्टिबुद्धिशब्दे न श्रुतिः । नैवात्र जगत्त्यन्तरमुपलभामहे । यत्तु गौणी व्याख्येयमिति मतम् । तन्न । ईक्षतेर्नाशब्दाप्रति न्यायविरोधात् । परस्याऽऽत्मन ईक्षणमेव मायेति मतान्तरमपि न । उक्तदोषसंवलितत्वात् , मोनाभावात्सर्वश्रुतिषु शक्त्यादिशब्दैर्नैव व्यवहारदर्शनाच्च । यच्चान्यद्विद्याशक्त्या परमेश्वरः पश्यति मायां नियच्छति चेति । तन्न । वृत्तिज्ञानस्यैव विद्याविद्याव्यपदेशात् । नहि पृथगन्तरेण विद्याविद्ये नाम केचिद्वर्तेते । तथा सति सुषुप्तावप्युपलम्भप्रसङ्गः । न हि सुप्तौ न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यावरणं विक्षेपो वाऽयमात्माऽहमस्मीति ज्ञानं वाऽस्ति । यतो ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च सुषुप्तौ समा एवेति । यत्तत्तीन्द्रियज्ञानमनावृतं परमेश्वरस्य परोक्षमेव तज्जीवानां नानावस्थासु चतसृष्वप्युपलभ्यत इति । तत्रानुयोगः—किं जीववदीश्वरस्थापि तत्परोक्षमुतापरोक्षमिति । आद्ये जीवानामपि तदस्ति । दुर्गतस्य वसुंधरातलस्थधनकुम्भवत् । द्वितीये विदेहावस्थायामपि तद्वाच्यम् । तथा च पूर्वावस्थः संसार एव वरम् । योऽयमीश्वरस्य संसारो ब्रह्मादिस्थावरान्तानन्तजवाविषयः सपिपात्तिकोऽपि न निर्विषयानन्दरूपतासंपत्तिप्रयोजको व्यग्रतासंपादकत्वात् । तथा च पूर्वासिद्धेन किमपराङ्गमल्पीयसा संसारेणेति । अत्रोच्यते—ईक्षणं च तावद्वृत्तिरेव । तद्विरहितस्य सुषुप्तौ तददर्शनात् । तानि च प्रतिदेहमन्तःकरणभेदेन बहूनि संपद्यन्ते । तथा च यस्मादयमात्मा बहुरूपो द्रष्टाऽभवत्तस्मात्स बहु स्यामित्यैक्षतेति निश्चीयत इति श्रुत्यर्थः । वस्तुतस्त्वक्षिणं द्विविधमव्यक्तं व्यक्तं च । तत्राव्यक्तं जानिष्यदङ्कुर-पूर्वावस्थारूपबीजान्तर्गतगर्भवत्प्रधानान्तर्गतजगत्सर्जनादिसंकल्पो बहु स्यामित्याका-

रकः । स च बहुरूपेण प्रसृतत्वान्महत्तत्त्वादिरूपेण व्यक्त उच्यते । महत्तत्त्वं चाहंकारसामान्यावस्था । तथा च तदेवेक्षणं सूक्ष्मतमं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मं स्थूलं चेति चतुर्विधं संपद्यते । तत्राऽऽद्यमनुमानैकगम्यं तेन इदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं संहर्तव्यमित्याकारकमायावृत्तिविशेषा अपि सूक्ष्मतमत्वादनुमेया एवेति बोध्यम् । त्रितयं क्रमेण महत्तत्त्वाहंकारचक्षुरादिषु द्रष्टव्यम् । यत्तु पारमेश्वरी समाष्टिबुद्धिरन्यैवापारिच्छिन्ना सर्वविषया यस्यामभिजायन्ते जगत्सर्जनादिसंकल्पाः सत्या एव जीवसंकल्पवत्क्वचिन्न व्यभिचरन्तीति । तत्रेदमाशङ्क्यते । समाष्टिबुद्धिशब्देन किं जडप्रधानं विवक्षितमुत ज्ञानम् । न द्वितीयः । दत्तदोषत्वात् । आद्ये तु नाममात्रभेद इति न विवादः । मन्मते तु य एव जीवसंकल्पास्त एवेशतंकल्पास्तस्य तदभिन्नत्वात् । ननु कथमेतद्वैषम्यदर्शनात् । तथा हि—यद्यज्जीवः संकल्पयति मोघमेव तत्तज्जायते । न ह्यव्यक्तगतेः परमेश्वरस्य चिकीर्षितं कश्चन वेद । स वोचि वेद्यं न च तस्य वेत्तेति च श्रुतेरिति चेत्सत्यम् । उच्यते । इयं हि ब्रह्मवादिनां प्रक्रिया । निर्विशेषपरमानन्दैकरूप आकाशदिवदनन्तश्च तस्य च माया नाम शक्तिरत्युत्कृष्टशुद्धसत्त्वप्रधान दर्पणस्थानीया तत्प्रकाशकत्वेन स देवः साक्षीत्यपदिश्यते । तस्मिंश्च चेतन आभास इवाचेतनो घटादिगपि बाह्यो विषयः कल्पितस्तथैव स पुनर्मिन्न इव व्यवहारे भासमानोऽपि परमार्थतोऽभिन्न एक एवेत्यादिश्रुतिशतेभ्यः । ततश्च मायायां प्राणिकर्मानुसारणैव संकल्पविशेषा जायन्ते । कर्माणि च लाघवाद्द्विविधानि शुभान्यशुभानि च । तानि पुनर्मोधान्यमोधानि चेति द्विविधानि । तत्र लीलाकैवल्यन्यायेन कृतानि कर्माणि मोधानि ततोऽन्यत्रामोधान्येव । तथा च जीवबुद्धिषु द्वये संकल्पा मोघा अमोघाश्च । मोघाः कर्मजा अमोघास्तद्विपरीता इति प्रेक्षावद्भिरवसेयन् । तदेवं मायाविजृम्भितान्तःकरणवृत्तिरेव विषयाभिभुखाऽविद्या, प्रत्यङ्मुखी सती विद्येत्यापद्यते । ते एव हि रुद्रस्य तनू । तत्र कामकर्मकर्मलसंसारभ्रमदायित्वादायित्वादविद्यावृत्तिरशिवेत्युच्यते । तद्विपरीता च विद्यावृत्तिः । स्वरूपानन्दसंपत्तिप्रयोजकत्वात् । तथा च श्रुतिः । विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह । अविद्यया मृत्युं वीत्वा विद्यया सुखवश्नुन इति । तत्प्राप्त्यर्थमिदवर्ण्यते—

या तै रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।

तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशंताभिचाकशीहि ॥३॥

हे रुद्र तव शिवाशिवयोस्तन्वोरुभयोर्मध्ये या शिवा तनूः सत्त्वोत्कर्षनिमित्ता विद्यावृत्तिः । द्वे हि रुद्रस्य तन्वावित्याम्नायत उपरिष्ठात् । रुद्रो वा एष यदाग्नि-
स्तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या शिवाऽन्येति । सा त्वेवमुच्यते । अघोरा घोरसंसारनि-
वर्तिकाऽप्यपं ब्रह्मायमात्माऽपहतपाप्मेति श्रुतेस्तत्पकाशिनी दुस्तरत्वाद्गिरिरिव सं-
सारस्तस्मिञ्छेते जीवेश्वररूपेण तिष्ठतीति गिरिशंतस्तत्संबोधनं गिरिशंत । शंतमया
तया तनुवा विद्याशक्त्याऽभिचाकशीहि । अविद्यापनोदेनाऽऽत्मानं प्रकाशय ।
स्तुतिपक्षे स्पष्ट एवार्थः ॥ ३ ॥

यदेतत्प्रधानं सर्वकर्मणां क्षेत्रमित्याचक्षते तत्क्षेत्रविद्रः । पर्जन्यवदीश्वरो यत्र
सत्तास्फूर्तिजीवनदानेनानुग्रहीता महत्तत्त्वप्रभृतीनि यतः कर्माण्यभिजायन्ते कर्मानु-
सारेण बीजानुरोधादिव सस्यानि तदेतत्कार्यजातं यथामर्यादमेवाभिवर्धते विनश्यति
चेति तत्स्वभाव एव न तत्र निमित्तान्तरं पश्याम इत्येके । मायैव निमित्तमित्यन्ये ।
आत्मैवेत्यपरे । नाऽऽद्यस्तेषां कार्यान्त्येन स्वभावानन्त्यकल्पने गौरवात्, व्यभि-
चाराच्च । व्यभिचरति चायं स्वभाववादः । कुतः । पदार्थानां स्वभावनैयत्यानि-
रूपणात् । यो हि कश्चित्पदार्थो द्राघीयसा कालेन वर्धते स एव क्वचिदल्पीय
साऽपि । तथाऽशितममृतमपि रोगमावहति विषमप्यारोग्यमादध्यात्सोऽपि निसर्गं
एवेति चेन्नूनमतिषेधावी भवान्यतोऽनवस्थातोऽपि न बिभेषि । एवं न द्वितीयः ।
क्षेत्रस्थानियत्वेऽपि तस्याः प्रवृत्त्यनयोऽशकत्वात् । नहि सस्यादेर्भूरस्ति हेतुर्वृद्धौ
हासे वेति । न तृतीयः । तस्य प्रकाशमात्रत्वेन तदहेतुत्वात्सूरादिवत् । यथोदे-
ष्यन्नादित्यो न कंचनोत्थापयति प्रस्थापयति वाऽस्तं गच्छन् तथाऽऽत्माऽपि नाऽऽ-
दंते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुरिति स्मरणात्तदप्रवर्तकः । किं तर्हि निमि-
त्तम् ? उच्यते । द्वे हि प्रकृतेः शक्ती परिणाभिनी परिणामयित्री चेति । त-
त्राऽऽद्या विक्षेपशब्देनोच्यते । परा तु कालशब्देन । सा यदि न स्यान्निरङ्कुश-
मभिवर्धेन विश्वमभिविप्लवेत वा । तस्मात्सर्ववस्तुनिधामकत्वेन घटो जातो भविष्य-
तीत्यादिप्रतीतिसिद्धा कालारूपा शक्तिरवश्यमादत्तव्या । तां विना न किंचित्
सिध्येत् । ननु कालोऽमूर्तो न कंचन नियन्तुं शक्नोति । निरर्गलाः खलु लोका
यथेष्टमभिवर्तन्ते न कालं गणयन्तीति चेत्तत्प्रत्यम् । तिस्रः खल्विमा मायाशक्तयः ।
काल आवरणं विक्षेपश्चेति क्रमेण सत्त्वरजस्तमःप्रधानाः श्रीमद्वैडपादैः शांभवौ
विद्या श्यामा, इति स्वकृतसूत्रेणाभिहिताः । तत्र कर्मपरिणाम इति निमित्तं काले

विपरीतप्रत्ययरूपं स्मृतिप्रतिबन्धकमावरणं तद्विस्मृतिर्ज्ञानापोहेन प्रमातृबुद्धिं प्रति-
बध्नात्येतदग्रे विस्तरतोऽभिधास्यते । नामरूपविजृम्भणं विक्षेपस्तदेतत्त्रिययोपादानं
मायाशक्तिरीश्वराधीना । ततश्चास्यामृचि कालशक्तिरभिधीयते—

यामिषुं गिरिशंत हस्ते विमर्ष्वस्तवे ।

शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुष क्षमात् ॥ ४ ॥

इषुवज्जीवबुद्धिवधकत्वादिषुशब्देन कालशक्तिरुच्यते । तथा च हे गिरिशंत
यामिषुं कालशक्तिं हस्ते विमर्षि । यो हि यदधीनो वर्तते स तद्धस्तगत इत्यव-
गम्यते । किमर्थं तदाह—अस्तवे जीवेषु निक्षेप्तुं कालाधीनो हि सर्वो लोकस्त-
स्माद्विभेति तदेवास्य निक्षेपणम् । गिरिं प्रपञ्चं स्वप्रकाशदानेन त्रायते तत्संबोधनं
हे गिरित्र तां शिवां कुरु । यथा जीवा न बिभ्युस्तथा विधत्स्व पुरुषं जगत् ।
अस्मदीयमिदं जीवारूपं सर्वं मा हिंसीः शोभनमेव कालं सर्वदा प्रवर्तयेत्यर्थः ।
सुगवमितरत्र ॥ ४ ॥

अथ यदेतदन्तःकरणं जीवौपाधितया प्रवर्तमानं वासनात्मकं विपरीताध्यास-
निमित्तं तन्निरवयवमित्येके । सावयवमित्यन्ये । नाऽऽद्यो मानाभावात् । आविद्या-
कार्यत्वेन दृश्यत्वाच्च । तन्मनोऽसृजतेति सावयवत्वश्रवणात् । ननु भवतु सावयवं,
घटादिवद्दृश्यमदृश्यं वा । नोत्तरः । सरूपत्वेन दृश्यत्वात् । यद्यप्यविद्यादशायां
रजस्तमोदूषिततया तमःस्थितघटादिवन्नोपलभ्यते तथाऽपि विद्यादशायां सत्त्वोत्क-
र्षण रजआदौ बाधिते दिव्याञ्जनोद्धाटितया तज्जन्यवृत्त्येव बाह्यविषयवन्निरक्षयते ।
तथा च बिम्बसूत्रं तदुपलम्भ इति । तत इति तृतीयभूविकातिक्रमोत्तरमित्यर्थः ।
तथा च तादृशान्तःकरणावच्छेदेन साक्षिणोऽपि प्रमातृतया सकलप्रपञ्चनिर्वाहस्त-
दपवादेन शुद्धात्मताबोधायेदमुच्यते । शिवेन यथार्थेन वचसा तत्त्वमसीत्याकारकेण
त्वा त्वामच्छावदामस्युगध्यपवादेन स्तुषः । इदं तु बोध्यम् । पर एवाऽऽत्मा
बुद्ध्याद्युपाध्यवच्छेदेन जीव इत्यापद्यते । योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्यो-
तिःपुरुषः स एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव
दृश्यते जलचन्द्रवादित्यादिश्रुतिभ्यः । ननु सर्वज्ञस्य कथं जीवभावो युक्तिसह इति
चेन्न । बाधकाभावात् । तथा हि—किं तावत्सर्वज्ञत्वं सर्वविषयकज्ञानवत्त्वं वा, उ-
पाधिदोषासदत्वं वा सर्वभास्यभासकत्वं वा । न तावदाद्यः । प्रमाणाभावात् । स

वेत्ति वेद्यामिति श्रुतेरन्गथोपपत्तेः । एकं एवाऽऽत्मा सकलबुद्धिप्रतिबिम्बितत्वेन सर्वविषयकज्ञानवानिव प्रतीयते । न परमार्थतः । कुतो बौद्धप्रत्ययावभासकत्वेन स्वतो ज्ञातृत्वायोगाद्वुद्धीनां च युगपत्सर्वविषयकज्ञानाभावात्समष्टिवुद्धेरपि वनवृक्ष-
न्यायेनाखिलबुद्धिसमुदायरूपत्वात्पारब्धसंस्काराणां परोक्षत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वाद्यो-
गिप्रत्ययस्य धर्मविशेषनिमित्तत्वान्नैवास्ति तादृशसार्धज्ञे प्रामाण्यामिति । अनुपप-
त्तेश्च । अनुपपन्नं चेवंभूतसार्धज्ञं कुतस्तथात्वेऽविकृतस्यैव परज्योतिषो जीवभाव-
श्रवणं विरुध्येत । न भूतभाविविप्रकृष्टव्यवहितादिसर्वविषयकज्ञानवतः किञ्चिज्ञ-
त्वानीशत्वाद्युपपद्यते । नहि जाग्रन्नेवं स्वप्नभ्रमेण विभ्रमीति नांशो जीवो निरवय-
वस्य तदसंभवात् । अनवस्थानाच्च । न च भगवद्वचनविरोधः । क्षेत्रज्ञं चापि मां
विद्धीति तेनैव निराकृतत्वात् । व्यूहचतुष्टयवादिनां मतमनुपादेयमेव । श्रुतियुक्ति-
विरुद्धत्वात् । नापि द्वितीयः । साक्षिण उपाधिसाधकत्वेन बाधकत्वासंभवात् ।
यद्यात्मा सविकल्पः स्वज्ञानवानस्यात्तर्हि प्रमाणवृत्तिमन्तरेण स्वयमेवोपाधिं हन्यात् ।
न ह्येतदस्ति । तस्य प्रकाशकयात्रत्वात् । एतेन स्वप्रकाशात्मनि कथमविद्यावस्था-
नयित्याशङ्कितमपास्तम् । चित्तो निर्विकल्पज्ञानस्वरूपतयोपपत्तेः । विकल्पो नाम
तावदुच्चनीचविमर्शो न सोऽस्त्यात्मानि । तथा सति ब्रह्माद्युत्कृष्टदेहानेव प्रकाश-
येन सूकरादिनीचयोनीस्तथा विद्यावृत्तीरेव प्रतिसंक्रमेन्नाविद्यावृत्ती । स्वरूपतिरो-
धायकत्वाल्लोचनात्तस्मात्सूर्योऽग्न्यादिवदविकल्प एव । यथा सूर्यः सविकल्पश्चेद्ब्रा-
ह्मणाद्यगाराण्येव किरणैरुपस्पृश्येन चाण्डालादिवीथीरेवमग्निर्मध्यमेवान्नमद्यान्नामे-
ध्यमन्नम् । न तदस्त्येवमात्माऽपि । व्योमादिवच्च । यथा वा व्योम स्वावरक-
स्याप्यभ्रादेराश्रयो भवति न तद्वर्धाधितुमुत्सहने । एवमात्मा स्वावरकस्याप्यविद्या-
देराश्रयः प्रकाशकश्च भवति । निर्विकल्पस्वरूपात्वात् । यत्तु नित्यविज्ञानमात्मानि
तत्ततो भिन्नमिति मतं तदनादरणीयम् । यतः स्वरूपभूतमेव तस्य तदग्न्यौष्ण्यादि-
वन्न ततो भिन्नम् । तदेवं नित्यविज्ञान ईश्वरः पयोरूपः पर्जन्यवद्भूमिस्थानीयायां
विशुद्धसत्त्वप्रधानायां प्रकृतौ स्वानन्दरसाभिवर्षी तद्वाच्छिन्नः साक्षीत्युपादिश्यते ।
बीजानि च तत्र तत्तज्जीवासाधारणकर्माण्येव । संस्काररूपेण तेषां तत्रावस्था-
नात् । यथा पर्जन्यः सबीजभूमावभिवर्षन्भूम्यवच्छिन्न इवाऽऽलोक्यते तद्वत् ।
ततश्च साभासायाः प्रकृतेः सकाशान्नानाविधकर्मसंस्कारजन्यत्वान्नानाजातीयानि
महत्तत्त्वाद्यवयवानि लिङ्गशरीराणि जायन्ते । तत्र यथा पर्जन्यरसो मृद्विकार-

बीजाङ्कुरानुस्यूत उपलपर्यन्तमभिव्याप्नोति तथा चिदाभासोऽप्यङ्कुरस्थानियानि सूक्ष्मशरीराण्यनुगतः सन्स्थूलशरीरमपि व्याप्नोति । वर्धिष्णुना सह वर्धमान इव सहिष्णुना सह सहमान इव चावभासते । स एष जीवः सुखदुःखाद्यनुभवन्निव परिणममान इव भेददर्शिनां भिन्न इव प्रतीयमानोऽप्यभिन्न एव चित्तरैकगात् । अमुना च मायामयत्वान्मृशभूतेन बुद्ध्याद्युपाधिमता जीवेन सर्वावभासके सर्वेश्वरे साक्षिणि भोक्तृत्वकर्तृत्वादिवर्मास्त्वध्यस्यन्ते । तेन संसारीवावभासमानोऽपि तद्धर्मासंसृष्ट एव । न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य इत्यादिश्रुतिभ्यः । तदेवं काल्पनिकजीवत्वव्यावर्तनेन तत्त्वमस्यादिभिः पारमार्थिकब्रह्मभाव उपदिश्यत इति न किञ्चिदसमञ्जसम् । ननु किमर्थमुपाध्यपवादेन वा मम सर्वेश्वरस्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते तदाह—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छां वदामसि ।

यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मः सुमना असत् ॥ ५ ॥

त्वयि सर्वात्मन्यविद्यासुप्तिमापन्ने सर्वमिदं त्वत्पतिविम्बभूतं जगज्जीवाख्यमयक्ष्मं संसाररोगगहितमत एव सौमनस्योपेतं च न स्यात्तत्स्वं जागृहि । यथेदं स्वरूपबोधेनापहतपाप्मतया न पुनः संसारपर्यावर्ते भ्रममाप्नुयात् । अपि तु परमानन्दरूपमेव स्यात्तथा त्वामध्छावदामसीति संबन्धः । आगमा हि बन्दिन इव सम्राजं परमेश्वरं स्तुवन्ति । जाग्रद्भावेन परमानन्दसंपत्तये चेति ॥ ५ ॥

एतदेव प्रपञ्च्यते—

अध्यवाचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।

अहीःश्च सर्वाज्जम्भयन्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इति श्रुतेर्देव ईश्वरस्तत्प्रणीतत्वाददैव्यः स एव हि तोषदेशेन संसाररोगनिवर्तकत्वाद्भिषक् प्रथमः पुराणः श्रेष्ठो वा । स्वतः ममाणत्वात् । अत एवाधिवक्ता सर्वज्ञकल्पः सर्वस्यापि तन्मूलकत्वात्स चैवंभूतो देवोऽध्यवोचत्कल्पित जीवभावव्यावृत्त्या पारमार्थिकस्वरूपमुपादिशति स्म यस्य स एष देवो रुद्रो व्यामोहकत्वादाहिशब्देन कामादय उच्यन्ते । तांस्तथाऽविद्यावृत्तयोऽपि यातुधानिशब्देनाऽऽत्मविधातकत्वात् । ताः सर्वा अपि जम्भयन्विनाशयन्वर्तते । यद्वा स चैवंभूतो देवरूपः रुद्रो मां जीवमध्यवोचद्ब्रह्मेत्युवाच । तस्माद्ब्रह्मैवाहं

परशिवाभिन्न इति जानीयादिति स्वयं तथा जानन्नितरानुपदिशति वेदपुरुषः
॥ ६ ॥

तस्यैवैषा परा शक्तिः स्वभावामर्शनोत्सुका । पूर्वत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं
न चाधिकम् । एष देवोऽनया देव्या नित्ये क्रीडारसोत्सुकः । विचित्रान्मृष्टिसंहारा-
न्विधत्ते युगपत्प्रभुः । इत्याद्यागमोपादिष्टा माया नाम पारमेश्वरी शक्तिरिति प्रागु-
क्तया च स देवो निर्गुणोऽपि [सगुण] इवावभासते । तस्य प्रकार उच्यते-

असौ यस्ताम्रो अह उत बभ्रुः सुमङ्गलः

ये चेमा रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः

हस्तशोऽवैषा हेड ईमहे ॥ ७ ॥

ननु रजआदिमायागुणानां परस्परकार्यकारणभावो वोत त्रयाणामेकमेवोपा-
दानं भिन्नमेव वा प्रत्येकमिति भवत्याशङ्क्य । नाऽऽद्यः । रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं
भवति भारत । रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथेत्युक्तीत्या बाध्यबाधक-
भावानुपपत्तेः । यदि रजःकार्यं सत्त्वं सत्त्वकार्यं वा रजः स्यात्तर्ह्यल्पसत्ताकं कार्य-
मधिकसत्ताकं कारणं कथं बाधेत । विरुद्धस्वभावत्वाच्चानुपपत्तिः । विरुद्धस्वभावा
हि रजआदयः कथमन्योन्यकार्यभूताः स्युः । कारणसदृशं कार्यं भवति । कारण-
गुणाः कार्ये संक्रामन्तीति न्यायात् । नहि सत्त्वगुणाः शमादयो रजसि रजोगुणा
वा कामादयः सत्त्व उपलभ्यन्ते । येन तयोः कार्यकारणभावः स्यात् । तस्माद-
नुपपन्नमेतत् न द्वितीयोऽपि । तेषामेव प्रकृतिभावश्रवणात् । तमआदीनामेव
गुणानां स्वातन्त्र्येण प्रकृतिभावः श्रूयते । यथा-समस्तसार्क्षं तमसः परस्तात् ।
नासतासीन्नो सदासीत्तदानीं तम आसीदित्यादौ तमसः, परोरजसेऽसावदे मित्यादौ
रजसो निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः, ऋतंभरा तत्र प्रज्ञेति च सत्त्वस्य सर्वशेष
तयाऽभिधानात्प्रकृतित्वं श्रूयते । तदन्यकल्पनायामवस्थानात् । यदि त्रयाणाम-
न्यच्चतुर्थं किमपि कारणं कल्पनीयं तदा तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गः
स्यात् । अत एव न तृतीयोऽपि । कुतः । एकस्मात्कारणाद्विरुद्धस्वभावानां कार्या-
णामुत्पत्त्यनुपपत्त्या प्रकृतिभेदः कल्पनीयस्तादाऽपि पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ एवेति । कथं
तर्हि व्यवस्थितिरिति चेदुच्यते । यो हि यदधिकरणो यदुपजीव्यश्च स तत्कार्य-
मिति नियमान्नानुपपत्तिः । तथा हि आवरणात्मकं तमोऽविद्याशब्दवाच्यं विद्या-

त्मकं सत्त्वमुपजीव्य वर्तते । तेन विना तदसिद्धेः । न भाति नास्तीति प्रत्ययो
 ह्यस्ति भातीति प्रत्ययसापेक्षः । अभावज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात् ।
 यथा वा जागरस्मृतिमुपजीव्य निद्रारूपा विस्मृतिः प्रवर्तते । नान्यथा तत्सिद्धिः ।
 ततश्च प्रकाशात्मकं सत्त्वं मूलप्रकृतिः । तस्याश्च शक्तिद्वयं तमश्च रजश्च । तदु-
 क्तम् शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् । विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं
 जगत्सृजेत् । अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः । आवृणोत्यपरा शक्तिः सा
 संसारस्य कारणमिति । एवं च लयविक्षेपात्मकयोस्तमोरजसोर्नाशहेतुः सत्त्वमेवेति
 मूलप्रकृतित्वं युज्यते । तदुक्तं-तत्त्वमस्यादिपाक्योत्थसम्पक्वधीजन्ममात्रतः । अविद्या
 सह कार्यैश्च नाऽऽसीदस्ति भातिष्यति । इति । सेयं विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया या-
 षत्पुरुषस्य भोगाय प्रवर्तते तावदावरणविक्षेपौ करोति । यदा चापवर्गाय प्रवर्तते
 तदा रजस्तमसी निर्धूय स्वयमपि तिरो भवति । सैव भगवती तयैव परमात्माऽपि
 भगवानित्याम्नायते । भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम् ।
 समधामौ समसत्त्वौ समौ तयोः समशक्तिरजरा विश्वयोनिरिति । ननु विशिष्टस्य
 जगत्कारणत्वे विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत इति नियमाच्छुद्धस्यापि जगत्कारणत्वं
 वाच्यम् । तथा च विकारित्वप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति चेन्न । इष्टापत्तेः । शुद्धत्वे-
 नापि रूपेण मिथ्यात्वस्येष्टत्वात् । तर्हि कथं तत्सिद्धिरिति चेच्छुद्धं स्वप्रकाश-
 मिति वाक्यस्याशुद्धत्वमस्वप्रकाशत्वव्यापकमित्येवं रीत्या निर्धर्मकत्वासिद्धेः । ननु
 तथाऽपि विशिष्टरूपे विशेषणस्यैव प्राधान्येन सांख्यमतावेशो दुर्बारः । कुतः ।
 प्रधानस्यैव विशेषणीभूतत्वात् । शिखी ध्वस्त इत्यादौ शिखायामेव ध्वंसप्रतियो-
 गित्वादिति चेन्नैवम् । अस्ति हि विशिष्टशुद्धयोर्विशेषोऽभियुक्तस्वीकृतोऽन्यथा
 शुद्धकमलाभिप्रायेण नीलं कमलमित्यपि मयोगः । तस्मादसंमतोऽयं न्यायः । किंच
 विशिष्टस्यैव तत्र तत्र जगत्कारणत्वं श्रूयते । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते । मा-
 यिनं तु महेश्वरमित्यैवमादिषु । भवत्वेतत्प्रकृतमनुसरामः । असावुकलक्षणः परमा-
 त्मा रुद्रः सत्त्वविशिष्टप्रकृत्या समेतस्तदुत्तरजसा ताम्रो भवति । ततो भूतात्मि-
 कया बभ्रुरित्येवं सुमङ्गलः परममङ्गलरूपो मङ्गलानां च मङ्गलस्मृतेः । ये च
 रुद्रा रुद्रशब्दवाच्या जीवा इमां भूमिमभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽसंख्याता
 वाऽनिश्चय एषां हेडस्तीक्ष्णत्वमविद्यावुतत्वमीमहे । तत्त्वमस्याद्युपदेशैर्निवारयामः ।
 जीवानामपि त्वदभिन्नत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तदेवं मायोपहितसाक्षिचैतन्यमीश्वरः स एवान्तःकरणविशिष्टः प्रमाता जीव
एतदुभयानुपहितं शुद्धं चैतन्यं परमात्मा स एव च प्रमेयं वेदान्तानामिति स्थितम् ।
तत्र साक्षि चैतन्यमेकमनेकं वा । किं तावदनेकमेव भवितुमर्हति । कुतः । एकत्वे
चैत्रानुगतस्य भैत्रस्याप्यनुसंधानप्रसङ्गादिति तन्न । केवलस्य तस्य ज्ञातृत्वायो-
गात् । यदि विनाऽप्यन्तःकरणं साक्षाज्जानीयात्तर्हि भवेदपि तदन्तःकरणानां तु
प्रतिदेहं भेदमवोचाम । तस्मादन्तःकरणैक्यवादिष्वेव तदाक्षेपो नास्मासु । ननु
तथाऽप्येकश्चेदेकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गे दुर्वार इति चेन्मैवम् । अन्तःकरणोपाधि-
भेदोपगमेनैव तदुपपत्तेः । तथा हि । अन्तःकरणं तावद्वृत्तिकदम्बेन साक्षिणं
व्याकुली करोति । तदुपगमेन तदुपहितस्य मुक्तावपीतरस्य बन्धः संगच्छते सवि-
त्रादिवत् । यथा सवित्रादिर्येन यत्राऽऽलोक्यते तेन तत्रास्तीत्यभिधीयते । परोऽ-
त्रापिहितमवेक्षमाणस्तं नेह सविता प्रकाशत इतिवदन्नुपलभ्यते । तथैकस्मिन्नपि
साक्षिण्यन्तःकरणावच्छिन्नत्वेनोभयसंभव इत्यनवद्यम् । ननु साक्षिणो बन्धमोक्षा-
तीताया नोपदेशोपयोगो मृषात्वाच्च जीवस्येत्युभयतःस्पाशा रज्जुरिति चेन्न । अ-
ध्यासोपापोहोपयोगित्वेन साक्षिण एव तत्संभवात् । ननु प्रतिबिम्बस्यैव बन्धमो-
क्षावित्येके । साक्षिण एव कूटस्थस्येत्यपरे । किं श्रेयो ? नोभयमपि । तथा हि ।
न तावदाद्यः । यदाश्रयेणाविद्या तदाश्रयेणैव तयोर्बहुचिन्तितत्वात् । प्रतिबिम्बस्य
च तदनाश्रयत्वान्निष्ठत्वाच्च । नच चेतनस्य प्रतिबिम्बोऽपि चेतनः सत्यश्चेति
वाच्यम् । चेतनस्याप्यस्मदादेः प्रतिबिम्बे जडत्वदर्शनात् । अधिष्ठानानतिरेकेण
सत्यत्वाङ्गीकारेऽस्मन्मतप्रवेशाच्च । नच साक्षिण एव ताविति द्वितीयः पक्षोऽपि ।
तस्याविद्यासाधकत्वेन बाधकत्वायोगात् । नहि यो यत्साधकस्तत्स्वयं बाधितमुत्स-
हते । तद्यथाऽऽकाशं न स्वयमेवाग्रे निरसितुमीष्टे किंतु वाय्वादिद्वारेणैव । तद्व-
त्साक्षी स्वयमविद्यासाधकत्वेन वर्तमानोऽप्यन्तःकरणवृत्तिद्वारा तां निरस्य स्वप-
काशपरमानन्दरूपेण विराजत इत्यतः साधिष्ठानस्य बन्धमोक्षावित्यवधेयम् । तत-
श्चाऽऽकाशादिवदेकस्य सर्वगतस्यापि साक्षिणोऽन्तःकरणाध्यासेनोत्क्रान्तिगत्याग-
तयोऽपि संगच्छन्ते । तत्रोत्क्रान्तिकार उच्यते—

असौ योऽबसतीति नीलग्रीवो विलोहितः ।

उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः । उतैनं

विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः ॥ ८ ॥

अयमर्थः । देहव्ययसमये जीवो रुजापन्नतया परवशमालक्ष्य शरीरं मरण-
निश्चयेनातिभीतो नाडीशैथिल्यावसरे बाह्यस्त्रीपुत्रादिदर्शनेन रुदन्परमव्याकुलतामु-
पगच्छति । ततश्चापानविलयेनोर्ध्वगतौ प्राणेष्वस्तमियासुषु स्तोत्रादिकरणेषु रजस्त-
मउद्रेकेण स्वप्नमालोकमान इव नानाविधानि नृपशवादिशरीराणि पश्यति । ततो
भाविजन्मभोगप्रदप्राक्तनेनोपस्थापितं यत्किमपि देहं बहु मन्यमान आश्लिषति ।
ततश्च प्राणादयोऽपि तमेवानुपतन्ते । दग्धेऽथो पूर्वदेहे दशमेऽह्नि पिण्डसान्निध्यमा-
पन्नो वायसनिषेधेन स्वजनप्रार्थनमभिकाङ्क्षते । तदुत्तरं तदपि कलेवरं प्रातिभा-
सिकमपहाय व्यावहारिकस्य तस्य लाभाय रेतोद्वारोदरभनुविशति जनन्याः । ततो
गर्भवेदनामनुभूय पुनर्जायत इत्येष संसारपर्यापत्तः । योऽसौ साक्ष्यपसर्पति देहादे-
हमाटीकते तदा नीलग्रीवस्तमोगुणोद्रेकादावृतपकाशो रजसा च विलोहितः ।
गाव इन्द्रियाणि तत्पालका देवा एनमदृशन् दृष्टवन्तः । उत्तेत्यनेन देहोत्पत्त्यनन्तर-
मिति द्रष्टव्यम् । इन्द्रियाधिवृतयो देवाः सशरीरमेव सन्तमुपयुञ्जते । उदशब्देन
शमो लक्ष्यते । शीतलत्वात्तद्धार्यः । कामादिवृत्तयोऽप्येनमदृशन् । बाह्यविषयस्थापि
साक्षिव्यापकत्वात्तत्र च कामादिवृत्तिपस रदर्शनात् । यद्वा द्रष्टारमप्येनं सशरीरं
सन्तमुदहार्य उदकाहरणाय गताः स्त्रिय इत्यनेन दीनास्ता अप्यदृशन् । किं
बहुना, उतापि च विश्वानि भूतानि यमपश्यन् स चैवंभूतो रुद्रो दृष्टः श्रवणमन-
नादिभिः साक्षात्कृतो नोऽस्मान्मृडयति सुखयति । तदनुभवं विनाऽन्यत्र निरुपा-
धिसुखासंभवादित्यर्थः ॥ ८ ॥

नमो अस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।

अथो ये अस्य सत्त्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः ॥ ९ ॥

हे भगवन् नीलग्रीवाय नमः । प्रधानविक्षेपशक्त्यान्विताय वृत्तिप्रतिबिम्बितचै-
तन्यमक्षं सहस्रसंख्यान्यसंख्यातानि तानि यस्य तस्मै कामसेचको मीढ्वांस्तस्मै
कर्मानुरूपफलदात्रे शिवाय तुभ्यं नमोऽस्तु । अथो येऽस्य सर्वसाक्षिणो रुद्रस्य
सत्त्वानो भूत्या अंशा इति यावत्, तेभ्यो जीवेभ्योऽप्यहं नमोऽकरं नमस्करोमि
॥ ९ ॥

ननु कोऽहं के चामी जीवा येभ्यो नमो विधीयत इत्यपेक्षायामविद्याविलासि-
तावरणविक्षेपदोषनिबन्धनमेव जीवेशद्वैतामित्यतस्तन्निवृत्तिमाशासते—

प्रमुञ्च धन्वंनस्त्वमुभयोरात्नियोज्याम् ।

याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥ १० ॥

हे भगवन् त्वं प्रणवात्मकस्य मायामयस्य धन्वन उभयोरात्नियोः कोटयो-
रावरणविक्षेपयोज्यामहंकाररूपां प्रमुञ्च । याश्च ते हस्त इषवस्त्वदर्धना जीवास्ता-
नपि परावप परित्यज । जीवभावमपहाय स्वरूपानन्देन विराजस्व ॥ १० ॥

अवतत्य धनुस्त्वः सहस्राक्ष शतेषुधे ।

निशीर्य शल्यानां मुखां शिवो नः समनां भव ॥ ११ ॥

हे सहस्राक्ष हे शतेषुधे । इषुधिशब्देन कर्माशयो लक्ष्यते । त्वमेव तद्धनुर-
वतत्यावरोपिताहंकाररज्जुकं कृत्वा शल्यानां वृत्तिविशेषाणां मुखा मुखानि नि-
शीर्य न्यग्भावेन स्थापयित्वा नोऽस्माकं सुशिवः परमानन्दकरः सौमनस्योपेतो भव ।
उक्तार्थस्यैवायं भङ्गच्यन्तरेण प्रपञ्चः ॥ ११ ॥

नन्वविद्यासाधकस्य मम कुतस्तद्वाधकत्वमित्यपेक्षायामन्तःकरणवृत्तिद्वारा घटत
इत्याशयेनाऽऽहुः—

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवाः उत ।

अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः ॥ १२ ॥

कपर्दी वृत्तिचतुष्टयाश्रयमन्तःकरणं चतुष्कपर्देत्यादौ तथाव्याख्यानात् । तत्ता-
दात्म्यापन्नः कपर्दी । तस्य तव धनुरुक्तलक्षणं विमतज्याकमस्त । उत बाणवान्
जीवनिमित्तं प्रधानं विशल्यं गतावरणविक्षेपमस्तु । अस्येषवः कामाद्या अनेश-
न्कार्याक्षमा भवन्तु । अस्य निषङ्गथिः कामाद्याश्रयमन्तःकरणमाभुरीषत्समर्थं बा-
धितानुवृत्त्या तिष्ठत्वित्यर्थः । यद्वा निषङ्गथिः खड्गः । शेषं समानम् ॥ १२ ॥

या ते हेतिर्भीदुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।

तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्षमया परिबुज ॥ १३ ॥

हे भीदुष्टम ते हस्ते या हेतिः कालरूपमस्त्रं यच्च धनुर्बभूव तेन च विश्वतः
सर्वतस्त्वं परिबुज परिपालय । किं भूतया हेत्या । अयक्षमया दृढतरयेत्यर्थः
॥ १३ ॥

कालस्यैव सर्वजगत्प्रवर्तकत्वात्तमेवोरुधा स्तुवन्ति -

नमस्ते अस्त्वायुधायानाततीय धृष्णवे ।

उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १४ ॥

हे रुद्र ते तव धनुषि संधानाभावाद्नातनाय धृष्णवे स्वरूपत एव प्रहर्तुं प्रगल्भायाऽऽयुधाय कालरूपाय नमोऽस्तु । तथा धन्वने प्रणवात्मकाय धनुर्बाणो-
पेताभ्यां ते बाहुभ्यां पूर्वोक्ताभ्यां नमोऽस्तु ॥ १४ ॥

न वयं त्वां संकटे पातयामः । संहरस्व वा शत्रून् भक्तांस्तु पालयेति प्रार्थ-
यन्ते—

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः ।

अथो य इषुधिस्तवाऽऽरे अस्मन्निर्वेहि तम् ॥ १५ ॥

ते धन्वनो हेतिरस्मान्भक्तान् विश्वतः परिवृणक्तु वर्जयतु । अथो यस्तवेषुधि-
स्तमस्मत्त आरे दूरे तं निर्वेहि स्थापयेत्यर्थः ॥ १५ ॥

इति रुद्रभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः ।

तदेवमाद्येऽनुवाके जगत्कारणस्याविरुतस्यैव परमात्मवस्तुनोऽविद्याहंकाराद्य-
ध्यासेनैव संसारो न परमार्थत इत्युक्तम् । अथास्मिन्ननुवाके संसारस्वरूपमुच्यते ।
ननु संसारस्याऽऽविद्यकत्वेन मृषात्वार्त्तिकं तत्स्वरूपवर्णनेनेति चेन्न । उपास्तावुपथो-
गात् । ननु साऽपि मृषैवेति चेन्न । चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वात् । स्वमादौ सूच-
कस्य मिथ्यात्वेऽपि सूच्यार्थस्य सत्यत्वदर्शनाद्वर्णादावपि ह्रस्वत्वदीर्घत्वादेः क-
ल्पितत्वेऽपि चार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात् । ननु केयं देवता नाम का च तस्या उपास्तिः ।
न तावद्ब्रह्मणि सा संभवति । नामरूपातीतत्वात् । नामरूपानुसंधानपुरःसरा ह्यु-
पास्तिरिति चेदुच्यते—ब्रह्मणो हि स्वस्वरूपभूतस्यानुभव एव नोपासना । न च
तज्जलानिति शान्त उपासीतेति विरोध इति वाच्यम् । सगुणब्रह्मरूपत्वात्तस्य । द्वे
ब्रह्मणी वेदितव्ये इत्यादिश्रुतेः । किंतु दिव्यविग्रहवती परात्मविभूतिरेव सा । तेन
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वमिति स्मरणाद्वापलुब्धादेरपि देवतात्वसिद्धेः । नन्वेवं सामान्य-
स्यापि श्रीमत्त्वाद्युपालम्भात्कस्योपास्यत्वमथ कस्योपासकत्वमिति चेद्गुणोत्कर्षवत्
एव विभूतिर्वेनोपास्यत्वमितरस्योपासकत्वमिति ब्रूमः । अत एव पञ्चानामपि यो
भर्ता प्रकृतिः सा न मानुषीत्यादिवाक्यानि संगच्छन्ते । सा च द्वेचा व्यक्तविग्र-
हाऽव्यक्तविग्रहा चेति । तत्राऽऽद्या भूमावेशोपालभ्यते राजादिः । अन्या तु दि-

वीन्द्रादिः । अव्यक्तविग्रहाणामपि पिशाचादीनामवैदिकत्वादनुपास्यत्वमेव । निर-
यहेतुत्वात् । इन्द्रादीनामिन्द्रो यातो वसितस्य राजाऽग्निर्मूर्धा दिवः ककुदित्यादि-
श्रुतिप्रणीतत्वादिष्टमेव तत् । अथैवं विभूतीनामपि सामान्यविशेषाभ्यामुत्कर्षानि-
र्णवुपलभ्येते । यथाऽविशेषत्वेऽपि देवानामिन्द्रादिः श्रेष्ठास्ततोऽपि ब्रह्मविष्णुहरा-
दय इत्युत्तरोत्तराधिक्यं तदुपासकानामपि भविष्यति । नन्वमीषां किमास्ति कृत्य-
मेकेनैव सर्वान्तर्यामिणा जगत्सर्गादिसिद्धेरिति चेन्न । अमात्यादिवत्तदुपयोगात् ।
तथाऽमात्यादी राजाज्ञैव राष्ट्रकार्याण्यनुतिष्ठति न स्वत एव । एवं ब्रह्मादयोऽपि
स्वान्तर्यामिपचोदितबुद्धिसंकल्पानुसारेणैव जगत्सर्जनादिव्यापारं संपादयन्ति । न
स्वातन्त्र्यमनवस्थानात् । नच सृष्ट्यादौ तेषामस्ति स्वातन्त्र्यम् । तथावे स्वस्वम-
काभिमानेन जगद्विप्लावयेयुः । तथा चामृतमृत्यू कस्य स्यातां न वा कस्येत्यन-
वस्थानादनैकमत्येनैकस्याप्यसिद्धेः । अकर्मजत्वं जातिसिद्धानाम् । किं च जन्मनैव
सिद्धानामात्मज्ञानवतामणिमादिसिद्धिसंपन्नानां तेषां ब्रह्मविष्णुहराणां कर्मजन्यत्वं
प्राणिकर्मानुसारेणैव तदाविर्भावसंभवाद् भेद एव प्रतिकल्पममीषां तत्समृतेः । प्रति-
महाकल्पं चैषां भेद एव न्याय्यः । कुतः । ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसं-
चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमिति स्मरणात् । उपलक्षणं चैत-
द्विष्णुहरावपि प्रमुच्येते इति बोध्यम् । उक्तं च वासिष्ठे—ब्रह्मणां कोटयो याताः
प्रयाता हरिकोटयः । रुद्राणां कोटयो याताः कैवाऽऽस्था मादृशे जने ॥ इति ।
तज्जत्वमितरेषां तद्दर्शनात् । कर्मजन्यत्वमेवेतरेषामिन्द्रादीनां तदर्थं शताश्वमेधादि-
यागविधायकशस्त्रदर्शनात् । मन्त्रश्च—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वमित्येवंजातीयको
दर्शयति जन्यत्वं ब्रह्मादेः । अपि च नकुलादेरिव तेषामस्ति सृष्टिकर्तृत्वं संकल्पा-
मात्रत्वात् । संकल्पश्चेदभिदानीं भूरि भूयादिदमुपक्षीयतामित्याकारकः । निमित्तमा-
त्रत्वात्तित्रादिवत् । यथा वा पुत्रादिगर्भस्य निमित्तमात्रमेव मातापितरौ भवतस्त्व-
न्यथैवोपचीयते तथा ब्रह्मादेरपि सृष्ट्यादिकं प्रति निमित्तमात्रत्वमित्यवधेयम् । अ-
थैवमुपासनानां प्राचुर्येऽपि शक्त्युपासनायाः क्षिप्रफलसाधकत्वात्तत्पूजासाधनोपयो-
गित्वेन श्रीचक्रमुपदेष्टुं च प्रथमं बिन्दुचक्रमुच्यते । उपासना चैवं द्विविधा । ब्रह्मा
चान्तरा च । तत्राऽऽद्याऽतिदुष्करा विधीता च निरयहेतुत्वात्तदुक्तं परशुरामेण—
आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम् । तस्याभिष्वञ्जकाः पञ्च मकारा-
स्तैरर्चनं गुप्त्या प्राकट्यान्निरयो भवतीति । मकारस्वरूपं च तत्तन्वे निर्णीतं तत्रैव

द्रष्टव्यम् । प्रबुध सकामानां देवताक्षोभोऽपि जायत इत्याह श्रुतिः । सृण्वेहवासि-
तया विश्वचर्षणिः पाशेन पतिब्रध्नात्पभीकान् । इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्य-
त्यादिशक्तिररुणा विश्वयोनिगिति । क्वचिच्च देवतासाक्षात्कारवतामसावेवोपासना
निखिलपुमर्थसंपादिनी जायते । दुर्लभश्चैवंभूत उपास्तिरसिकः । द्वितीया त्वन्त-
र्यागरूपा तत्प्रकारश्चेत्थम् । आधारचक्रस्थां भुजङ्गीरूपां कुण्डलिनीमृजुयोगकल-
योत्थाप्य सूर्यकुण्डलिन्याऽऽहतचक्रस्थया सह संयोज्य तत आज्ञाचक्रवासिचन्द्र-
कुण्डलिनीं द्रावयित्वा तद्रसेन समुदयद्वास्वरभास्करामनवद्यसौन्दर्यां निन्यतरुणीं
पाशाङ्कुशधरां देवीं तर्पयान्वनिवेद्य तं स्वामी कुर्यात् । इदमाप्नातमरुणोपनि-
षदि—उत्तिष्ठत मा स्वप्नगमिच्छध्वं भारताः । राज्ञः सोमस्य तृप्तासः सूर्येण
सयुजोषसः ॥ १ ॥ यत्कुमारी मन्द्रयते गद्योषिद्यत्पतिव्रता । अरिष्टं यत्किञ्च
क्रियते अग्निस्तदनुविध्यति ॥ २ ॥ हे भारताः सरस्वत्युपासका भरतण्डवासिनो
वा उत्तिष्ठत मा स्वप्न मा शयनं कुरुत । अग्निं स्वाग्निष्ठानगतमिक्कुण्डलिनीभि-
च्छध्वमिच्छादण्डेनोत्थापयध्वम् । ततः सयुजा संयुक्तेन सूर्येण तन्नामकुण्डलिन्य
उषसो दग्धस्य द्रुतस्येति यावत् । राज्ञः सोमस्य रसेन तृप्तासो भवत । तथ
कुमारी सुप्तोत्थितामिक्कुण्डलिनीं ज्ञानयोगाधायकत्वात्कुमारीत्युच्यते । कुं महामा-
याभूमिं मारयतीत्यर्थात् । इच्छाशक्तिरूपा कुमारीति शिवसूत्राच्च । मन्द्रयते
मन्दस्वनं कुरुते । सा च योषिद् बुद्धिरूपेण पतिं कामेश्वरं परशिवं व्रतयति भुङ्-
क्त इत्यर्थात्पतिव्रता विद्याशक्तिर्यत्किञ्चिदरिष्टं शुभं क्रियते तयेति योज्यम् ।
अग्निस्तदनुविध्यति साधयतीति श्रुत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेऽप्येतन्निर्णीतं ‘चरणं पवित्रं
विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि । तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मान-
मरातिं तरेम ॥ १ ॥ लोकस्य द्वारमर्चिमत्पवित्रं ज्योतिष्मद्भ्राजमानं महस्वत् ।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितां दधातु ॥ २ ॥ इत्यत्र
गुप्तं यथा स्यात्तथा चरतीति चरणं कुण्डलिनीत्रयमर्चिज्योतिष्मन्महस्वादिति बह-
निसूर्यच द्रेतजसामुपलक्षणम् । पावकस्यार्चिषा भानोस्तेजसा महसा विधोः । गुप्ता-
चारा कुण्डलिनीत्यादिना शुकसंहितायामुपबृंहणदर्शनात् । शेषं समानम् । तेन
प्रथममकारः संप्रत्यते । न एव चञ्चलत्वाद्वितीयमकारतुल्यं तदर्पणं च मनोना-
शे नोन्मन्यवस्थासंपत्तिः । बाह्यविषयस्यापणं नाम तदनासक्तिस्ततस्तृतीयो निज-

बुद्धेः प्रेयसीस्थानीयत्वेन तत्तादात्म्यभावनं चतुर्थः । तन्मात्राण्येव पञ्चम इत्येवं पञ्चप्रकारैः परदेवतायजनात्कैवल्यमेव फलमित्याहुः । इदं च योगिनां स्वत एव जायते । तच्च पूज्यपूजाधिष्ठानमन्तरा न भवतीत्यत आह—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये

दिशां च पतये नमः ॥ १ ॥

हिरण्यशब्देन प्राथमिकः शुक्लबिन्दुरुच्यते । रजतं हिरण्यमिति श्रुत्यन्तरात् । स च सकलजगदुपादानतया बाहुस्थानीयः सहायो यस्य तेन विना जगत्कर्तृत्वानुपपत्तेः । इदमत्र रहस्यं यथा कश्चित्सन्नाद् दिव्यविग्रह आदर्शे स्ववदनमालोक्य प्रमोदनुगच्छति तथा परमेश्वरोऽपि स्वाश्रितमायाशक्तौ दर्पणस्थानीयायां स्वप्रतिबिम्बं समीक्ष्य तेन रूपेण बिन्दुस्वरूपतामयते । प्रकृतिश्च चिद्रसासिका स्वगतरजस्तमसी आविष्करोति । ततश्च साभासास्त्रयो बिन्दवः प्रभवन्ति सोमसूर्यवहूनिनामभिः । ततश्च ज्ञानेच्छाकिरयाशक्तिस्वरूपं बिन्दुत्रयं मिलित्वा बिन्दुचक्रमुपादिशन्ति तच्च सत्त्वप्राधान्याद्धिरण्यमुच्यते । किंच स्थूलसूक्ष्मकारणत्वात्सर्वान्तरत्वमप्यस्याह श्रुतिः । अष्टाचक्रा नवद्वारा देवतानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः । तस्मिंहिरण्यमये कोशे त्र्यक्षरे त्रिप्रतिष्ठिते । अस्ति यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुरिति । इदमेव बिन्दुत्रयं केचित्कामकलास्वरूपमाहुः । तथा हि—सोमबिन्दुर्मुखं रव्यग्निबिन्दू द्वौ स्तनौ । समष्टिरेषां हादकलेति वस्तुतो देहेऽपि त्रय एवावयवाः शिरआदिघण्टिकान्तस्तदादिस्तनान्तः परः । उदरादिजघनान्तस्तृतीयः पाणिपादं तु तच्छाखा इति । आम्नायते च महोपनिषदि—द्वामण्डला द्वास्तना बिम्बमेकं मुखं चाथ गुहा त्रीणि सदनानि कामी कलं काम्यरूपां विदित्वा नरो जायते कामरूपश्च काम्य इति । तथा च सर्वशक्त्याश्रयबिन्दुचक्रोपहितः परमात्मा सर्वसाक्षी सर्वेश्वर इत्युच्यते । इदमेव संप्रज्ञातावस्थायामपरोक्षी कुर्वन्तो योगिनः परमानन्दमनुभवन्ति । नन्वतीन्द्रियत्वात्कथमपरोक्षमिति चेन्न । प्रकाशबहुलतया धीदृश्यत्वात् । तदुक्तं दक्षिणामूर्तिस्तोत्रप्रबन्धे—तनूनपाच्छिचारातारेशतपनोपमम् । ब्रह्मनाडीगते प्राणे बिन्दुरूपं प्रकाशते । इति । सेनान्य इति । सेना चात्र शक्तीनां समूहस्तं नयनि कालरूपेणेतस्ततश्चालयतीति सेनानीः । यश्च शक्तिसमूहश्चरमवृत्तौ सकलसंशयासंभवादिदोषनिरासकतया प्रादुर्भवति । तथा च शिवसूत्रम् । शक्तिचक्रानुसंधाने विश्वसंहार

इति । पुनः किंभूताय । हिरण्यबाहवे । दिशां च पतये नम इति । अत्र दिक्श-
शब्देन चत्वारो वेदा उच्यन्ते । तथा च श्रुतिः । ऋवां प्रतीची महती दिगु-
च्यते । दक्षिणायाहुर्भुजाभयाराम् । अयर्वणामङ्गिरसां प्रतीचीं साम्ना मुदीची
महती दिगुच्यते इति । तत्पालकाय नमो नम इति द्विर्वचनमादरज्ञापनार्थम् ॥ १ ॥

करमपातं त्रिकोणचक्रमुपदेष्टुं द्वितीयं यजुराह—

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः

पशूनां पतये नमः ॥ २ ॥

वृश्च्यन्त इति वृक्षाः । कार्योपाधित्वादिच्छाज्ञानरूपौ द्वौ क्रियारूपश्चैक
इत्येवं त्रयः कोणास्तद्भूभ्यः शिवेभ्यो नमः । व्यष्ट्यभिप्रायेण बहुवचनम् । ता-
नेव विशिनष्टि—हरिकेशेभ्य इति । महत्तत्त्वस्य रजस्तमउभवं हितत्वेन तद्वृत्तिभूत-
त्रिकोणानामपि हरिकेशत्वं केशशब्देन वृत्तिरुच्यते । नम इति द्विर्वचनं पूर्ववदे-
वैवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । पशूनां पतये नम इति समष्ट्यभिप्रायेणैकवचनम् ॥ २ ॥

वसुकोणचक्रमाह—

नमः सस्त्रिज्जराय त्विषीमते

पथीनां पतये नमः ॥ ३ ॥

अत्रान्वतामिस्रतामिस्रमहामोहमोहवमः संज्ञाः पञ्चाविद्यावृत्तयः । कालकर्म-
स्वभावास्तत्र इत्येवं वसवोऽष्टौ कोणा यस्य तद्वसुकोणं तस्मै । किं भूताय । त्वि-
षीमते कान्तिमते सस्त्रशब्दो बालतृणवाची । तद्वस्त्रिज्जराय इडा पिङ्गला सुषुम्ना
चेति त्रयः पन्थानः । तत्र दक्षिणोत्तरावाद्या सद्योमुक्तिरूपश्चैक इत्येवं शास्त्रासि-
द्धास्तेषां पतये तन्नियमनद्वारैव तत्प्राप्तेः । इदं चाहंकाररूपं तद्रूपाय शिवायेति
पूर्ववत् ॥ ३ ॥

दशारयुग्ममुपदेष्टुं पूर्वमन्तर्दशारमाह—

नमो वभ्रुशाय विव्याधिनेऽञ्जानां

पतये नमः ॥ ४ ॥

सूक्ष्मतन्मात्राणि सूक्ष्मभूताणि चेति दश आरा यस्य तस्मै । विद्याकामधेनु-
पतिः परमधर्मस्वरूपाः शिवोऽत्र धम्रुशब्देनोच्यते । तस्मिन्लब्धस्तत्वेन चाते तिष्ठ-

तीति बभ्लुशस्तस्मै । रसयोः सावर्ण्यात् । विव्याधिनेऽन्तःकरणोत्पादनद्वारा
छलकाय । अद्यन्त इत्यन्तानि स्थूलविषयास्तेषां पतिस्तत्कारणत्वात्तद्रूपाय न-
मोऽस्तु ॥ ४ ॥

अथ बहिर्दशारमाह—

नमो हरिकेशायोपवीतिने

पुष्टानां पतये नमः ॥ ५ ॥

तद्धि स्थूलभूततन्मात्ररूपं तेन च विराडुच्यते । स च हरिकेशः । हरितो
मेघाः केशस्थानीया यस्य भुजंगीस्वरूपा कुण्डलिनीशक्तिरुपवीतिं यस्य पुष्टानां
सत्त्वादीनां पतये तस्मै नमो नमः ॥ ५ ॥

मन्वस्त्रमाह—

नमो भवस्य हेत्यै

जगतां पतये नमः ॥ ६ ॥

तच्च ज्ञानकर्मेन्द्रियदशकं मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानीति चतुर्दशानि यस्य तादृशं
तच्चैवमुच्यते—भवस्य संसारस्य हेतिरस्त्रं तस्मै । अन्तर्वृत्त्यैवाविद्यातत्कार्यनिवृत्तेः ।
जगतां जंगमानां पतये तेनैव तद्व्यवहारदर्शनात् तद्रूपाय शिवाय नम इति ॥ ६ ॥

हृदयपुण्डरीकमेव नागदलं तदाह—

नमो रुद्रायाऽऽतः पाविने

क्षेत्राणां पतये नमः ॥ ७ ॥

परस्याऽऽत्मनो व्यापकत्वेऽपि हृदयमेवामिव्यक्तिहेतुरतस्तत्रत्याग रुद्राय परगा-
त्मने नमोऽस्तु । किंभूताय । आततेन विस्तारिणेन धनुषाऽवति रक्षति तस्मै क्षे-
त्राणां सर्वप्राणिशरीराणां पतये समष्टिरूपत्वात्तस्मै ॥ ७ ॥

षोडशदलमाह—

नमः सूतायाहन्त्याय वनानां पतये नमः ॥ ८ ॥

शतं चैका हृदयस्य नाड्य इति श्रुतिप्रणीतानां षोडश मुख्या नाड्यस्तन्म-
याय सूताय देहाधारत्वात्सहायाय यावज्जीवमहन्त्याय वनानां विषयाणां पतये
तद्रूपाय शिवाय नमः ॥ ८ ॥

ततो वृत्तत्रयमाह—

नमो रोहिताय स्थपतये

वृक्षाणां पतये नमः ॥ ९ ॥

कामकरारूपध्याने हि बिन्द्वादिमन्त्रान्तचक्रमेव मुखं नागदलषोडशदले कुचौ भूपुरमेव हार्दकला तदेतदवयवत्रयमेव वृत्तत्रयमिति केषांचिदस्ति मतं तच्चै-
वमुच्यते रोहिताय रजोवशिष्टाद्रकाय स्थपतय स्थिराय वृक्षाणां देहादीनां पतय
आधाराय ॥ ९ ॥

भूपुरमाह—

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय

कक्षाणां पतये नमः ॥ १० ॥

मन्त्रिणे जगत्कार्ये सहायत्वाद्वाणिज इन्द्रियाणि तत्पतित्वाद्वाणिजाय कक्षा-
णामुत्तरोत्तराभिव्यक्तदशविधध्वनीनां पतये तन्मूलत्वात् ॥ १० ॥

अथैवमुपदिष्टचक्रमपञ्चोपहितत्वेन परमात्मनो जगत्कर्तृत्वादिकं तथा 'देश-
कालानवच्छिन्नं तद्धर्मं परमं महः' इत्यादि व्यवहाराच्च तदनुपहितत्वं शुद्धत्वं
चोपदेष्टुं कानिचिद्यजूंष्याह—

नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां

पतये नमः ॥ ११ ॥

नम उच्चैर्घोषायाऽऽक्रन्दयते पृचीनां

पतये नमः ॥ १२ ॥

नमः कृत्स्नवीताय धार्वते

सत्त्वनां षण्ये नमः ॥ १३ ॥

तत्र भुवं विश्वं तनोति इति भुवान्निस्तस्मै । अत एव वारिवो व्रव्यं कर्मानुरूप-
सत्फलमिति यावत् । तस्य कर्ता वारिवस्कृत्स एव वारिवस्कृतस्तस्मै सोमरूपेणौ-
षधीनां पतये नमः । धर्मोऽयमधर्मोऽयमित्युच्चैर्घोषो यस्य तस्मै वेदरूपायेत्यर्थः ।
तद्विरुद्धमाचरतः पुरुषानाक्रन्दयति दुःखदानेन रोदयतीति तस्मै । इन्द्रियाध्यानाभि-
मानवन्तः पत्तयस्तेषां पतये जीवेशरूपेण कृत्स्नं जगद्गीतं व्याप्तं येन तस्मै ॥ ११
॥ १२ ॥ २३ ॥

नन्वीश्वरस्य सतः कथं जीवत्वं तस्मिन्सति वा कथमीश्वरत्वमेकस्व विरुद्ध-
धर्मायोगात्तुहिनदहनवत्तस्माद्धे इ एव न्याय्य इति चेन्न । श्रुतिस्मृतियुक्तिविरोधेन
तदनङ्गीकारात् । उपपत्तिरन्यथाऽपि भविष्यति । तथा हि । अरूपमस्पर्शमगन्ध-
वच्च तदित्यादिश्रुतिभ्यः कामरूपाकारविकारादिविधुर आत्मेति तावत्सर्वोपनिषत्प्र-
सिद्धम् । माया तु त्रिगुणात्मिका दृश्यते स्पर्शयोग्या । तथा च कथमनयोः सं-
बन्ध इति । प्रतिबिम्बद्वारक इति चेन्न । अमूर्तस्य प्रतिबिम्बासंभवात् । मूर्तस्य
वस्तुनो हि निसर्गनिर्मलवार्यादौ प्रतिबिम्ब उपलभ्यते । न च नीरूपस्यापि जपा-
रूपादेः स्फटिकादौ तदुपलम्भ इति वाच्यम् । युक्तिमात्रत्वात् । तत्र हि रक्तरू-
पस्य दृश्यत्वादात्मनस्तदयोगात् । एतेन शब्दस्यापि प्रतिबिम्बोऽस्ति प्रतिशब्दाख्य
इत्यपास्तम् । श्रावणत्वात्परस्य तदसंभवात् । न च तर्हि श्रोतव्य इत्यतदेः का ग-
तिरिति वाच्यम् । अशब्दमित्यनेनैव निराकृतत्वात् । आत्मेति हि शब्दमात्रं
श्रोत्रेण श्रूयते नापरोक्षी क्रियते । तदविषयत्वात् । न च वार्यादौ नीरूपमप्या-
काशं प्रतिस्कामति । कथमन्यथा जानुमात्रे जलेऽप्यतिगम्भीरताप्रतीतिः स्यादिति
माच्यम् । तत्र सावित्रादिप्रकाशोज्ज्वलितस्यैव तस्य प्रतिबिम्बदर्शनात् । प्रकृते च
तद्विरोधात् । तस्मान्नाऽऽत्मप्रतिबिम्बवादो युक्तिसह इति चेद्वाढम् । न वयं सो-
रादेरिवाऽऽत्मज्योतिषः प्रतिबिम्बमङ्गी कुर्महे येनायं दोष उद्भाव्यते । किंतु चि-
दात्मनो वृत्त्यादावभिव्यक्तिरेव प्रतिबिम्बोऽग्न्यादिवद्यथा सर्वगतस्याप्यग्नेः काष्ठादा-
वेवाभिव्यक्तिस्तथा ब्रह्मणोऽपि । तद्यथा घट आकाशपूर्ण एवोत्पद्यते तथा वृत्ति-
रपि साभासैव समुत्पद्यते न पुनः प्रवेशो व्यापकत्वव्याघातप्रसङ्गात् । तत्सृष्ट्वा
तदैवानुपाविशदित्यादावन्यथा व्याख्यातत्वाच्च । ननु जीव ईश्वरश्चेत्कथं सार्वज्ञ्यं
नानुभूयते सत्यसंकल्पत्वादिकं वेति चेन्न । संस्कारपारोक्ष्येण तदनुपलम्भात् ।
परोक्षाः खल्विमे संस्कारा नानाजातीया नापरोक्षीकर्तुं शक्या धर्माधर्मवत् । यथा
धर्माधर्मौ नापरोक्षी क्रियेते अतीन्द्रियत्वात्तथा संस्कारा अपि । किंतु प्रकृतिप्र-
काशकतया वर्तमानः साक्षी सर्वेश्वरोऽपि तदुत्थलिङ्गशरीराध्यासेनानीश इवाऽऽ-
स्ते व्यावहारिकजीववत् । यथा वा शब्दादिबाह्यविषयकज्ञानवतः सर्वज्ञकल्पस्य
जाम्बजीवस्य स्वाम्बजीवाध्यासेनानीशत्वादि तद्वत् । साक्षी चैक एव प्रत्यगात्मा
तदुपाधेरेकरूपत्वात्तदाश्रितकार्योपादानकोटौ संस्काराणामप्रवेशात्तद्धेदे तदभेदस्येष्ट-
त्वात् । यद्यप्यावरणभेदेन तत्प्रतिबिम्बाः प्राज्ञात्मानो मिथ्यन्ते तथाऽपि बिम्बस्थाः

नीयः साक्षी न भिद्यते सर्वगतत्वात् । आवरणं च न भाति नास्ति कूटस्थो
मामहं न जानामीत्याकारकवृत्तिविशेष इत्यवोचाम् । तादृग्वृत्तिकूटाभिष्यक्तचे-
तन्येन जीवशब्दवाच्येन सर्वात्मनि साक्षिण्यारोप्यते खल्वयं जीवभावस्तत्र चाभि-
मानवृत्तिरेव रज्जुस्थानीया बध्नाति कामधेनुवृषभस्थानीयौ शिवापरमेश्वरौ लोकि-
कशकटादिवत् । यथा वा लोकप्रसिद्धस्य शकटस्याचेतनस्य स्वतो गत्यभावेऽपि
रज्जुनिबद्धवृषभादीनां चेतनेन सोपपद्यते तथा समष्टिबुद्धितदीश्वराभ्यामूह्यते कि-
लायमचेतनो देहशकटः । यन्निबन्धनमिदं साक्षित्वं सैषा समष्टिबुद्धिर्नायैवेत्यवो-
चाम् पुरस्तात् । ननु तर्हि सुप्तावपेतजीवभावो जीवः स्यात्तदानीपन्नाः करगलयेन
सार्द्धोदयादिति चेन्न । सुखमहमस्वाप्सामिति परामर्शानुरोधेन वृत्तित्रयस्य तदानी-
मप्यङ्गीकारात् । ननु च यदि तत्र वृत्तित्रयमस्ति तर्हि कुतो नोपलभ्यत इति
चेन्न । सूक्ष्मतमत्वेनेति प्रागेवोक्तत्वात् । सूक्ष्मो ह्यहंकारो लयमेष्यन्सूक्ष्मतरा भवति
तदा महानुच्यते । लीनः सन्सूक्ष्मेति मो भवति तदा समष्टिबुद्धिरित्युच्यते । अयु-
ष्याश्च विशिष्टरूपाद्या विशेषणीभूतास्तिस्रो वृत्तयस्तदानीमानन्दमनुभवन्ति । ताश्च
सुखाहंकारावस्थाज्ञानाकारास्तिस्रो वृत्तय इति गौडपादाचार्यसूत्रेणोपपादिताः ।
सैयं सुषुप्त्यवस्थोक्तसमष्टिबुद्धेश्च पुनः सूक्ष्मतरादिरूपतानापत्तिर्विदेहमुक्तिरिति ताहुः ।
ननु प्रमाता नाम वृत्तिप्रतिबिम्बो वा बिम्बस्थानयिः साक्षी वा । नाऽऽद्यः । तस्य
परिणामित्वेन स्वविकारसाक्षित्वानुपपत्तेः । नापि द्वितीयः । तस्य ज्ञातृत्वे सत्या-
नन्त्यानुपपत्तेः । किञ्च संयुक्तः सन्साक्षी जानीयान्न ह्येतदस्ति । असङ्गो ह्ययं
पुरुष इति श्रुतेः । अत्रोच्यते—द्वेधा ह्यन्तःकरणं भवति । धर्मिरूपं धर्मरूपं चेति ।
तत्राहमाकारका विशिष्टवृत्तिर्धर्मी तदवाच्छिन्नः प्रत्यगात्मैव प्रमाता । नान्योऽतोऽ-
स्ति ज्ञाता श्रोता मन्तेत्यादिश्रुत्यन्तरात् । न च पूर्वोक्तदोषः केवलविशिष्टरूपाभ्यां
तदुपपत्तेः । न चासङ्गोऽयमिति श्रुतिविरोधः प्रकाश्यप्रकाशकत्वसंबन्धस्य तत्रा-
प्यङ्गीकारात् । अधिष्ठानाध्यस्तत्वं वा संबन्धोऽस्ति । अत एव शब्दोऽप्यसौ
प्रत्ययानुपपद्य इति पातञ्जलिरुङ्गस्यापि ज्ञातृत्वमाह । सा च विशिष्टरूपेणेत्य-
त्यस्मन्मते विशेषः । अन्यास्तु धर्मभूताः सामान्यवृत्तयः सन्ति शतशो मनआदि-
शब्दवाच्याः । याभिराकुलीकृतः साक्षी संसारीवावभासतेऽविवेकिनाम् । ननु
प्रमाणवृत्त्या यदि प्रमाता जानाति तर्हि किमस्ति कृत्यं साक्षिणा येनायमतिरिक्तः
स्वीक्रियत इति चेदुच्यते । न तावत्साक्षिप्रमाणोरत्यन्तभेदमुपगच्छामः । किंत्व-

हमस्मीत्याकारकधीरेव तद्व्यपदेशहेतुः । तथा हि । चिन्मात्रपूर्णवस्त्वाश्रितं जड-
प्रधानं नाम बीजशक्तिः । सा तु प्रथमं महत्तत्त्वाभिधामादायाऽऽविर्भवति । ततो
महिरहंरूपेण ततोऽपि बहिर्भूतआदिरूपेणेति प्रक्रिया । तत्र मनआद्यसंकोचेन
पूर्वोऽस्मीति प्रत्ययो महत्तत्त्वं तदवच्छिन्नचैतन्यं साक्षिशब्दवाच्यं तत्संकोचेनाह-
मिति प्रत्ययावच्छिन्नं चैतन्यं प्रमातृशब्देनाभिधीयते । वस्तुतस्तु तदभयोरपि तेन
तेन रूपेण मिथ्यात्वादनवच्छिन्नं शुद्धचैतन्यमेव प्रमेयमिति प्रागेवावोचाम । ननु
स्वप्नमनोराज्यादौ प्रतीयमानप्रातीतिकजीवदेवतादीनां प्रमाणवृत्तिरस्ति वा न वा ।
किं तावत्प्राप्तम् । अस्तीति । कुतः । स्वप्नादौ शुभाशुभसूचकत्वस्यान्यथानुपप-
त्तेरिति । तन्न । मानाभावात् । तथा सति जीववदीशस्यापि बाह्यविषयापलम्भा-
द्भोगः पसज्येत । ततश्चाविशेषादनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति श्रुतिविरोधपस-
ङ्गाच्च । इदं तु बोध्यम् । शक्तिद्वयवदेकस्य नित्यशुद्धबुद्धगुक्तस्वभावस्याऽऽ-
त्मनः सकलस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चस्योत्पादकत्वेऽपि तदनुभवः प्रमाणवृत्त्यभावात्किंतु प्र-
मातृरूपेण तस्यैवास्त्यनुभवस्तत्त्वात् । प्रमातृरूपस्य स्वरूपमेव स न ततो भिन्न-
स्तत्त्वमस्यादिश्रुतिभ्यः । ततश्च परलोकयातायातक्षमेन बुद्धिसत्त्वाभासेनावच्छिन्नः
परात्मा स्वतस्तदक्षमोऽपि शयालोर्जीवस्य दूरदेशयातायातवदनुयातीव प्रतीयते न
न परमार्थतः । सर्वगतत्वेन तदसंभवात् । तस्यमेव च प्रमाणवृत्तौ स्थूलसूक्ष्मप्र-
पञ्चभोगनैराशयेनाऽऽत्मपरायणायां निष्प्रत्यूहमविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरिति ॥

इति रुद्रभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः २ ॥

द्वितीयेऽनुवाके बिन्दादिचक्रप्रपञ्चारोपेण साक्षिणः सर्वात्मकत्वमुक्तमिदानीं
तस्यैव प्रमातृरूपेण संसारितामाह—

नमः सहमानाय निव्याधिन

आव्याधिर्नीनां पतवे नमः ॥ १ ॥

प्राक्तनोपस्थापेतदुःखादिकं सहव इति तस्मै । संशयविर्यासादिवृत्तीः प्रमा-
णवृत्त्या नितरां ध्यायतीति निव्याधी तस्मै । आसमन्ताद्विध्यन्ति विवेकजन्यज्ञा-
नमित्याव्याधिन्यः संशयादिवृत्तयस्तासां पतये साक्षिरूपेण तत्पकाशकाय तादृशाय
रुद्राय नमो नमः ॥ १ ॥

नमः ककुभाय निषङ्गिणे स्तेनानां
पतये नमः ॥ २ ॥

जडवर्गपकाशकत्वात्ककुभाय श्रेष्ठाय । निषङ्गः इषुधिः कर्माशयस्तद्वते ।
स्तेनाः कामादयस्तत्पकाशकाय नमः ॥ २ ॥

नमो निषङ्गिणं इषुधिमते
तस्कराणां पतये नमः ॥ ३ ॥

नितरां सङ्गी निषङ्गी तस्मै । अत एव पदकारा निषङ्गिण इति नि सङ्गिन
इत्याहुः । इषुधिमते मायावते । तस्करा गुप्तचोराः परोक्षस्मृतिसंस्कारादयस्तत्पतये
नमो नमः ॥ ३ ॥

नमो वञ्चते परिवञ्चते
स्तायूनां पतये नमः ॥ ४ ॥

स्वमादौ जाग्रत्पञ्च वञ्चते सुषुप्त्यादौ तदुभयवपि परिवञ्चते सुषुप्तिकाली-
नान्तःकरणसूक्ष्मावस्थास्त्विषां वर्णविशेषास्तायवस्तेषां पतये प्राज्ञरूपाय रुद्राय नमः
॥ ४ ॥

नमो निचैरवै परिवचराया-
रण्यानां पतये नमः ॥ ५ ॥

नितरां चरणशीलं मनस्तद्रूपाय परितश्चरणशीलोऽहंकारः परिवचस्तद्रूपस्तस्मै ।
अरण्यवद्दुःखावहे संसारे वर्तमाना विषया आरण्यास्तत्पालकाय नमः ॥ ५ ॥

नमः सृकाविभ्यो जिघांस-
द्भ्यो मुष्णतां पतये नमः ॥ ६ ॥

सृकाः छुरिका दुर्वासनास्तद्वद्भ्यो जिघांसद्भ्योऽपस्मारादिभ्यो मुष्णद्भ्यो
विवेकज्ञानापहारेभ्यस्तद्रूपेभ्यो नमः । ६ ॥

नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यः
प्रकृन्तानां पतये नमः ॥ ७ ॥

आसिमन्त इव धीर्यवन्तो ये ह्यविद्यारात्रौ संचरमाणाः क्षणलवादिकालविशेषास्ते च जीतानामायुराच्छिद्य प्रकृन्ता विनाशकास्तद्रूपेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

नम उष्णीषिणौ गिरिचराय

कुलुञ्चानां पतये नमः । ८ ॥

उष्णीषिण उष्णीषवदावरकलिङ्गशरीराभिमानिने गिरिवद्दुरारोहं कर्ममार्गमाचक्षते तस्मिंश्चरत्याभिनिवेशेन वर्तत इति गिरिचरः । अत एव देवादीनां स्थापनापहारित्वेन कुलुञ्चानां पतये नमः ॥ ८ ॥

एवं लिङ्गशरीरप्रयुक्तं जीवस्य संसारित्वं भोगाय तत्तल्लोकायातायातक्षमत्वं चाभिधाय प्रसङ्गालिङ्गप्रवतकं देवताविशेषं चोपदिशति । तत्र वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यकर्मेन्द्रियाणां क्रमादग्निन्द्रोषद्रमृत्युप्रजापतिदेवतास्तासामाद्यामाह—

न इषुमद्भ्यो धन्ताविभ्यश्च

वो नमः ॥ ९ ॥

इषवोऽत्र वाचः । कोपप्रसादौ धनुःस्थानीयौ । कोपपूर्विका हि रुशती वाक् । तद्विपरीता प्रसादपूर्विका । तदुक्तम्—कोपप्रसादधनुषो वाक्शरा मुनयः कश्चित् । शपन्ते चानुगृह्णन्ति तस्मान्नैतान्प्रकोपयेदिति । ततश्च वाग्रूपेषुमन्तः कोपप्रसादधन्वयुक्ताश्चाग्रयो भवन्ति । तदधिष्ठातृत्वान् । तेभ्यो नमोऽस्तु । रुद्रांशत्वात् । अत्र सर्वत्र बहुवचनं जीवबाहुल्याभिप्रायेण ज्ञातव्यम् ॥ ९ ॥

पाणीन्द्रियदेवतामाह

नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च

वो नमः ॥ १० ॥

आतन्वते विचित्रशिल्पानीत्यातन्वानाः प्रतिदधते भोग्यवस्तुनीति प्रतिदधानाः पाणयो भवन्ति तदधिष्ठातृभ्य इन्द्ररूपरुद्रेभ्यो नमः ॥ १० ॥

नम आयच्छद्भ्यो विसृजद्भ्यश्च

वो नमः ॥ ११ ॥

आयच्छन्ति संचयन्ति विजसृन्ति प्रसारयन्ति पादांस्तादृशा उपेन्द्रास्तद्रूपेभ्यो वो नमः ॥ ११ ॥

उपस्थेन्द्रियदेवतामाह -

नमोऽस्यद्भ्यो विधपद्भ्यश्च

वो नमः ॥ १२ ॥

अत्रासनं च वेधनं चोपस्थेन्द्रियकर्म प्रसिद्धम् । यस्थामुशन्तः प्रहराम शे-
फमिति श्रुतेः ॥ १२ ॥

पायुदेवतामाह-

नम आसीनेभ्यः शयानेभ्य

वो नमः ॥ १३ ॥

इहाप्यासनं शयनं च पाय्विन्द्रियमवष्टभ्यैव भवतीति तत्कर्तृमृत्युरूपेभ्यो वो
नमः ॥ १३ ॥

चक्षुर्देवतामाह-

नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च

वो नमः ॥ १४ ॥

स्वपनं जाग्रच्चोन्मेषनिमेषाभ्यां चक्षुर्धर्मः प्रसिद्धस्तत्कर्तृसुषुप्तरूपेभ्यो नमः
॥ १४ ॥

श्रोत्रदेवतामाह-

नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च

वो नमः ॥ १५ ॥

श्रोत्रेन्द्रियं हि संनिहितं शब्दं स्वाधिष्ठाने स्थित्वैव शृणोति । दूरस्थं तु दूरे
गत्वैव । दूरे शब्द इति प्रत्ययात् । ततश्च तदधिष्ठातृदिग्रूपदेवता अपि तिष्ठन्त्यो
धावन्त्यश्च भवन्ति । तद्रूपेभ्यो वो रुद्रेभ्यो नमः ॥ १५ ॥

त्वगिन्द्रियदेवानाह-

नमः सभाभ्यः समार्पतिभ्यश्च

वो नमः ॥ १६ ॥

सभारूपः खल्वयं देहो यत्राहंकार एव कर्ता राजा मनोमात्य इन्द्रियपरि-
वारः शब्दादिविषयान्भुञ्जानो हृदयसिंहासनमधिरूढो बुद्धिनर्तक्या नृत्यगीतादि

वीक्षन्निव लक्ष्यते । तस्य च सभारूपदेहस्य त्वग्निन्द्रियमावरणं पालयितृ चेति
सभासर्भापतिशब्दाभ्यामुच्यते । ततश्च तदधिष्ठातृवायुदेवतारूपेभ्यो वो नमः
॥ १६ ॥

रसनेन्द्रियदेवानाह—

नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ ७ ॥

दुर्यभ्यं किल रसनेन्द्रियमश्वादिवत्समस्तज्ञानेन्द्रियाणाम् । तदुक्तम्—जितं सर्वं
जिते रस इति । तथा च तादृक्षस्वरूपेभ्यो वो रुद्रेभ्यो नमः । अत्र देवतेन्द्रिय-
योरभेदोक्तिर्नियन्तृनियम्यभावाभिप्रायेण ज्ञेया ॥ १७ ॥

इति रुद्रभाष्ये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थस्तत्राऽऽदौ घ्राणेन्द्रियदेवतामाह—

नम आग्न्याधिनीभ्यो विविध्यन्ती-

भ्यश्च वो नमः ॥ १ ॥

आसमन्ताद्विध्यन्ति आव्याधीनि विविधं विध्यन्तीति विव्याधीनि च भव-
न्ति । कुतः । मृगमदादिपदार्थानां करपृष्ठादौ संघर्षणेनैवावघ्राणदर्शनात् । ताद-
र्थ्येन तत्रोपचाराच्च । ततस्तत्कर्तृकदेवतारूपेभ्यो वो नमः ॥ १ ॥

मनोहंकारबुद्धिचित्तानामन्तःकरणवृत्तीनां मध्ये प्रथमं बुद्धिदेवतामाह—

नम उगणाभ्यस्तृहतीभ्यश्च

वो नमः ॥ २ ॥

निश्चयरूपादिबुद्धिवृत्तयः संशयादिदोषपरिपन्थित्वेनोत्कृष्टास्तीव्राश्च । अत-
स्तादृक्स्वरूपरुद्रमूर्तयोऽपि उगणा उत्कृष्टगुणरूपास्तृहतीभ्यो भवन्ति ताभ्यो
नमः ॥ २ ॥

मनोदेवतामाह—

नमो गुत्सेभ्यो गुत्सेपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ ३ ॥

मनो हि नानाविधविषयकामुकावाद्गृत्सामित्युच्यते । देवतारूपरुद्रमूर्तयोऽपि तथोच्यन्ते । गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नम इति ॥ ३ ॥

अहंकारदेवतामाह—

नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ ४ ॥

अहंकाराधीनः खल्वयं वृत्तिसमूहस्ततश्च वृत्तिव्रातरूपेभ्यस्तपतिभ्यश्च नमः ॥ ४ ॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ ५ ॥

एवमनुसंधानरूपस्य चित्तस्यापि शमदमादिनानावृत्तयो गणशब्देन निगद्यन्ते । ततस्तादृशेभ्यो नमः ॥ ५ ॥

एवमन्तःकरणधर्मभूतवृत्तीनामितिद्वयाणां च देवताः समभावा उपदिश्य धर्मिभूतस्य तस्य तदमहितक्षेत्रज्ञ एव देवतेत्याशयेनाऽऽह—

नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च

वो नमः ॥ ६ ॥

एकमेव हि शुद्धमनन्तचैतन्यं तत्तदन्तःकरणोपहितत्वेन साक्षिशब्दाच्चम् । तदेव च तस्मिन्प्रतिबिम्बितत्वेन क्षेत्रज्ञशब्देन व्यवहियते । तत्र साक्षिशब्दाच्चस्य व्योमादिवदेकत्वेऽपि प्रतिबिम्बितस्य तस्य भवति वैविध्यमुपाधिवैविध्यात् । ते तु क्षेत्रज्ञाः परमार्थतो विरूपा रूपरहिताः । व्यवहारतस्तु विश्वरूपा जडतादात्म्यापन्नत्वाज्जडरूपास्तद्रूपेभ्यो वो नमः ॥ ६ ॥

नमो महद्भयः क्षुल्लकेभ्यश्च

वो नमः ॥ ७ ॥

अचिन्त्यप्रभावः खल्वयं साक्षी यतस्तत्तदुपाधितादात्म्येन महान्श्च क्षुल्लकश्च भवति ॥ ७ ॥

नैतावदेव किंतु नियन्तृनियम्यरूपेणापि व्यवहरति विस्मापयन्निवाऽऽह—

नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च

वो नमः ॥ ८ ॥

देहाश्चेते रथरूपकत्वेन श्रुतावुक्ताः । तदारूढाः क्षेत्रज्ञा रथिन इत्युच्यन्ते
आत्मानं रथिनं विद्धीत्यादौ । ततश्च तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति सर्वा-
त्मा भगवान्द्रोऽपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपत्वेनाभिधीयते ॥ ८ ॥

एवं जीवरूपतामभिधाय साक्षिणस्तस्यैवेश्वररूपत्वमाह—

नमो रथेभ्यो रथपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ ९ ॥

देहरूपस्थारतच्छक्तिकार्यत्वेन तद्रूपा एव तेषां पतयस्त एव साक्षिणः । बहु-
वचनं तृपाधिनानात्वादित्युक्तम् । न हीशसमुपेक्षितं क्षणमात्रमपि स्थापुमीष्ट इति
॥ ९ ॥

अथेदमाशङ्क्यते—याः खल्विमा इन्द्रियदेवता अभ्युदितास्ताः किं तत्तल्लो-
कवासिन्धः सिद्धिवशादत्रापि संवसन्ति न वा नव्या एव काश्चनोत्पद्यन्ते । अधि-
ष्ठानसमकालीना एव वा । अदृष्टानुसारादागमापायिन्योऽविद्यापरिणामविशेषा
वेति । किं तावत्प्राप्तम् । प्रथमपक्ष एव युज्यते । कुतः । जातित एव सिद्धिसं-
पन्नानां तासां बहुभवनस्य प्रसिद्धत्वादिन्द्रियेष्वपि सूक्ष्मरूपेणावस्थानं संभवति ।
तथा चोक्तं यदि नियतविग्रहा काचिद्देवता स्यात्तर्ह्येकस्य यजमानस्य यज्ञे हवि-
रादातुं गतायास्तस्या यज्ञान्तरे गमनं न स्यात् । न हि नियतविग्रहो मनुष्यादि-
रेकत्र भोक्तुं गतोऽन्त्रापि गन्तुमीष्टे । तस्मान्नियतविग्रहैव देवता भवितुमर्हति ।
नानाविधत्वानुपपत्तेश्चैवं । किं च नियतविग्रहत्वं एकस्यैव चतुर्भुजत्वादिशरीरवि-
शिष्टस्य रुद्रादेर्देशभुजत्वपञ्चमुत्थत्वादिनानारूपत्वानुपपत्तेः । यदि तु त्रिनत्रैकमुख-
चतुर्भुजरुद्रमूर्त्यपेक्षया पञ्चमुखत्वादिविशिष्टमूर्त्यो भिन्ना इत्युच्यते तदाऽपि पूर्वोक्त-
नानाविधत्वानुपपत्तिस्तदवस्थैवेत्यदोषः । एवं सिद्धिवशात्सिद्धे देवतानां वैविध्ये
स्यात्तथा । ननु यदा योगी बहून्कायाज्जिर्मीयते तदा ते किं समनस्काः प्रत्युत
निमर्नस्का इति । नोत्तरः । प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । आद्येऽपि किं निर्मातृपृथग्भाभिप्रायव-
च्चित्तयुक्ता न वा तद्विपरीताः । नाऽऽद्यः । अनुभवसिद्धनियन्तृनियम्यभावानुपप-
त्तेः । यदि योगिपृथग्भाभिप्रायचित्तयुक्तास्ते निर्मितदेहा स्युर्न नियम्येरन् निर्मातृयो-
गिमनसा । तस्मान्निजमनोभिप्रायानुरोधीनि मनांसि संजनयति । इयं चास्मितामा-
त्रसमाधिमनुसंधतः सिद्धिरुपतिष्ठत इत्युक्तं पतञ्जलिना । निर्माणचित्तान्यस्मिता-

मात्रादिति । ततश्च तत्तल्लोकवासिसूर्यादिदेवताः सिद्धिवशादिन्द्रियाण्यप्याविश-
 न्तीति चेन्न । अनुपपत्त्यैव तदनङ्गीकारात् । तथा हि । चतुरशीतिलक्षसंख्ययो-
 नयः प्रत्येकमनन्ताः सत्त्वमे जीवास्तत्तदिन्द्रियेषु स्थितानां स्वीयनिर्मितदेहानाम-
 नुसंधातृत्वे देवानां नानेश्वरत्वसिद्ध्यापत्तेः । इष्टापत्तावेकेश्वरनिर्णायकश्रुतिस्मृति-
 विरोधात् । श्रुतयश्चैवम् । द्यावाभूमी जनयन्देव एकः । नित्यो नित्यानां चितनश्चे-
 तनानामेको बहूनां यो निदधाति कामान् । एकः सन्बहुधाविचारः । एक एव हि
 भूतात्मा । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः । एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्तीत्याद्याः ।
 स्मृतयश्च—सर्वधर्मात्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । ईश्वरः सर्वभूतानामित्येवयादयः ।
 किंच न हि सूर्यादिषु विद्यमानेषु कस्यचिच्चक्षुष्मत्ता कस्यचिदन्धत्वं वा न यु-
 ज्यते । अपि च योगी यावन्निर्माणदेहानुसंधाता न तावदव्यग्रो भवति । दृष्टं
 चैतत्कृष्णादिषु । न हि कृष्णादिरेकः सन्षोडशसहस्रसुन्दरीभोगाय यावद्वहुरूपो
 भवति न तावदव्याकुलः । कुतः । अनुसंधानरूपोपाधेरनपायात् । तदेवं सति
 स्थानिदेवतानां कदाऽपि निराकुलत्वं न स्यात् । किंच यद्यंशतस्तत्तदिन्द्रियेषु
 स्थित्वा निरुक्तदेवताः कर्मसु जीवान्प्रवर्तयन्ति तदा जीवानां पराधीनतया स्वतः
 कर्तृत्वायोगान्मा भूतत्तत्कर्मफलभोगः । भूयाच्च तत्प्रवर्तकदेवतानां प्रधानकर्तृत्वात् ।
 तस्मान्नाऽऽद्यः पक्षो युज्यत इति । द्वितीयेऽपि किं प्रतिक्षणमुत्पद्यन्ते प्रत्यहं वा ।
 प्रथम आद्यक्षणोत्पन्नदेवतायां द्वितीयक्षणे ध्वंसस्तृतीयक्षणे पुनरन्यदेवतोत्पत्तिरिति
 यदि मतं तर्हि द्वितीयक्षणे करणप्रवृत्तिर्न स्यात् । प्रवर्तकदेवतायास्तदानीमनुत्पन्न-
 त्वात् । यदि पुनरव्यवधानेनैव परोत्पत्तिस्तदा परस्थां प्राथमिकदेवतायाः प्रवर्त-
 कादिशक्तयोऽप्युत्पद्यत इति वाच्यमिति गौरवं स्यात् । न चेदं फलमुखत्वाद्दो-
 षायेति वाच्यम् । प्रतिक्षणं देवताभेदे क्षणानन्त्येन देवतानन्त्यकल्पनागौरवस्य
 फलमुखस्य दुष्परिहारत्वात् । अतो न द्वितीयः । निरुक्तदोषसंवलितत्वात् । न
 च प्रागुक्तविकल्पानां तृतीयोऽपि । कुतः । यावद्वन्धकोटिजीवानां तासामपि बन्ध-
 दर्शनेन मोक्षदशयां च तथा तन्मोक्षदर्शनेन जीवत्वाविशेषादनुपात्यत्वापत्तेः ।
 न च यावदधिकारमवस्थितिरधिकारिणामिति न्यायेन यावज्जीवदशं तदिन्द्रियाव-
 स्थितावपि न तासां जीवत्वं नित्यमुक्तत्वादिति वाच्यम् । तत्तदिन्द्रियाभिमानवतां
 नित्यमुक्तत्वासंभवात् । यदि च व्यवहारतस्तथात्वैऽपि परमार्थतोऽभिमानशून्यतया
 नित्यमुक्ता इत्यापाद्यते तर्हि तथाविधेनैकेन नित्यमुक्तसर्वान्तरगतपरमात्मनैव सर्व-

शक्तिना तत्तत्प्रकाशकत्वोपपत्तौ किं गौरवग्रस्तेन बहुदेवताकल्पनेनेति संक्षेपः । ततश्चादृष्टानुसारादागमापायिन्योऽविद्यापरिणामविशेषरूपा एव देवता इत्येव ज्यायः । तेन च कर्मानुरूपेशितुर्मायोपाधेनित्यमुक्तपरमात्मन एव तत्तत्करणेषु तत्तद्देवतारूपेण भावनं विधेयम् । ततश्च क्वचिज्जीवेश वधिरान्धत्वादिकमप्यदृष्ट-
दुर्विलासादेवेत्यवगन्तव्यम् । इत्थं चाविद्याविजृम्भितवपश्चवक्रपरभागवर्तिनी पर ब्रह्माभिधाना काचिदेकैव देवता सकलकरणप्रवर्तिक ऽनुग्रहतदभावाभ्यां विद्यमान-
स्वरूपेव प्रहीणेष्ववभावयितृभावनानुसारिणी समस्तजनहृदयान्तरबहिर्भागयोरप्येक-
रूपैवोपलक्ष्यत इति निष्कर्षः ।

एवं प्रपञ्चानुभवकालीनस्थितिमुक्त्वा जीवन्मुक्तिकालिकां स्थितिं वक्तुमुप-
क्रान्ते-सेनाभ्यः सेनानीभ्य इत्यादितोऽनुवाकसमाप्तिर्व्यन्तम्—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च

वो नमः ॥ १० ॥

अयमर्थः—“ तद्विज्ञानार्थं सद्गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनि-
ष्ठम् ” इति श्रुत्युपदेशाद्गुरुरूपसत्तिपर्वकं ततो लब्धतत्त्वमस्यादिवाक्योपदेशस्य
ब्रह्मत्वं विजिज्ञासोर्यतमानस्य योगिनस्तात्वीयभूमिकाजयोपक्रमेऽसंभावनादिदोषवृ-
न्दपारिपान्थिन्यः संभवन्ति विवेकवृत्तयस्ता एवेह सेनाशब्देन निरुच्यन्ते । यदाह
भगवाञ्जिवः—विवेको भैरवः शक्तिचक्रोपसंहारे विश्वसंहार इति च । अनयो-
ऽयमर्थः । विवेको नाम द्रष्टृदृश्यविभेदविमर्शः । स एव सर्वतो भरितत्वाद्भैरव
इत्यावेद्यते । आकाशादिदेवताश्च मायाशक्तयस्तासां चक्रं नाम कामक्रोधादिवृत्ति-
सैन्यं तदुपसंहारे ब्रह्मैकतानतापत्ययेन बाधे सति भवति विश्वस्य सर्वस्य संहारो
बाधः । असंप्रज्ञाते हि दृश्यं न स्फुरति सुप्ताविवेति विद्वदनुभवसिद्धम् । इयांस्तु
विशेषः सुषुप्तादसंप्रज्ञातसमाधेश्चित्तलपाभाव इति । तल्लयो हीतरत्र । तदुक्तं
लीयते हि सुषुप्तौ तज्जिगृहीतं न लीयत इति । ननु शुद्धं ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा
वृत्तिः स्वस्येतरोपाधिवृत्तिरुदयते स्वस्याप्युपाधित्वाविशेषादित्यादावखण्डवस्त्वा-
कारा खल्वेकैव वृत्तिरापाद्यते तत्क्रथमुक्तं वृत्तयः संभवन्ति । इति चेत्सत्यम् ।
यद्यपि वस्तुन एकत्वादेकैव तद्विषया वृत्तिर्वैकुमुचिता तथाऽपि प्रत्यवस्वरूपावर-
कत्वेन समुद्भवन्तीनां नानाविधतत्तत्संशयवृत्तिपिशाचीनां निरासाय ब्रह्मविद्यात्म-

कचरमवृत्तेरेव शक्तिभूताः समुत्तिष्ठन्ति प्रमाणवृत्तिदेव्यः । ननु सरुच्छ्रवणमात्रे-
णैव कस्याचिदसंदिग्धा वृत्तिरुदयते । तत्र नाऽऽभिः किमपि कृत्यामिति चेदिष्टाप-
त्तिरिति ब्रूमः । यथा विधिनिषेधात्मकशास्त्रस्थ कृतार्थं प्रति वैयर्थ्येऽप्यकृतार्थं
प्रति साफल्यमिति । ननु निर्विकल्पसमाधौ विकल्पशब्दवाच्या वृत्तिरस्ति वा न
वा । आद्ये व्याघातः । द्वितीये पुनरुत्थानानापत्तिः । इष्टापत्तौ नाभुक्तं क्षीयते
कर्मेति स्मृतिविरोधपसक्तेः । ब्रह्मज्ञस्य हि संचितक्रियमाणकर्मक्षयाश्लेषयोरपि दे-
हारम्भकस्य नाप्ययः । तथा च सूत्रं तदविगम उत्तरपूर्वावयोरश्लेषविनाशौ तद्वच-
पदेशादिति । अत्रोच्यते । सन्ति हि समाधावपि सूक्ष्मवृत्तयस्तदानीमनुपलम्भ्यमाना
अप्युत्थानदशास्वनुमीयन्ते । एतावन्तं कालं समाहितोऽभूवमिति परामर्शदर्शनात् ।
नापि व्याघातः । वृत्त्यनुपलम्भमात्रस्य निर्विकल्पशब्देन विवक्षितत्वात् । ततश्चैवं
भूतवृत्तिरूपसेनानियन्तृत्वेन प्रकाशकत्वेन वर्तमानाः सेनान्यस्तेभ्यो नमः ॥ १० ॥

अथोक्तसंप्रज्ञातसमाधेः प्राग्भाक्संप्रज्ञातसमाधिवैशारद्याविजृम्भितसिद्धिवि-
शेषविशिष्टयोगिनः परमपुरुषाद् भ्रश्यन्तीत्याशयेनाऽऽह—

नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतुभ्यश्च

वो नमः ॥ ११ ॥

अयमर्थः—ये हि पारमार्थिकीं सिद्धिमपहाय काश्चिदन्या एव सिद्धीः संगृ-
ह्णते संग्रहीतारस्ते तु क्षत्ता ग्रामचण्डालस्तद्वद्दिगीता इति तादृशानामपि परमा-
र्थतः शिवरूपतया नमस्करणं संगच्छते ॥ ११ ॥

नमस्तक्ष्मभ्यो रथकारेभ्यश्च

वो नमः ॥ १२ ॥

किंच यथा खलु तक्षाणः काष्ठकुट्टका रथादीन्कुर्वन्ति तद्वत्सकामयोगिनो
देहरूपरथं दिव्यरूपेण परिणामयन्ति । प्रसिद्धं हि योगिपुरीषादेरपि दिव्यगन्ध-
त्वम् ॥ १२ ॥

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च

वो नमः ॥ १३ ॥

अपि च कुलालादीनां सामग्रीबलाद्धटादिनिर्मातृत्वमेवं मनोपात्रसामग्रीवतो

योगिनोऽपि नानाविधदेहनिर्मातृत्वं भूतसूक्ष्माश्लिष्टं मनोभावमेव ह्युपादानीकृत्य
 बहुरूपा भवन्ति योगवन्तः । तथा च शिवसूत्रं—शक्यनुसंधाने शरीरोत्पत्तिरिति ।
 शक्यश्चात्र भूतसूक्ष्माणि । तासां अनुसंधानं नाग संस्कारवता मनसा तादात्म्यभा-
 वनं तस्मिन्सति शरीराणां दिव्याङ्गनादिरूपाणामसंक्रलितानां वा यथाभिलषित-
 शरीराणामुत्पत्तिर्भवतीति सूत्रार्थः । अत एव स एकवा भवति द्विवा भवतीत्यायाः
 श्रुतयः संकल्पिताभिलषितनानाविधशरीरोत्पत्तिं दर्शयन्ति । असंक्रलितानामप्यु-
 त्पत्तिं पतञ्जलिरेवादीत् । स्थान्शुपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादि-
 त्यादिना । अस्यार्थः । स्थानानि येषां सन्ति ते स्थानिनो योगविभ्रंशकरा देव-
 ताविशेषास्तेरुपनिमन्त्रण आह्वाने कृते सति सङ्गस्मययोरकरणं तत्सङ्गे वा गर्वो
 वा न कर्तव्य इति । इदमत्रावधेयम् । योगमभ्यस्यतः पुरुषस्य हि यदा बुद्धिस-
 त्ववैशारद्यं जायते तदा तदसहमानाः स्थानिदेवता आविर्भूय प्रार्थयन्ते । तद्यथा—
 भो आयुष्मन्निदमारुह्यतां देवयानं त्वारितमागम्यतां सकलसंज्ञिकेतं नाकलोक-
 मिमा रामाः सुभगाः सुषेयमिदममृतममी कल्पद्रवस्तदेतत्सर्वमुपभुज्यतामिति । तत-
 स्तत्सङ्गे तु योगभ्रंश इति स परिहर्तव्यः । यतश्चेमा देवता आविर्भवन्ति यादृ-
 श्रूपा वा तदनुपदमेव वक्ष्यामः । तथा च निरुक्तदेवतासङ्गादिकर्तारः कर्मारस्ता-
 दृग्भ्यो रुद्रेभ्यो नमः ॥ १३ ॥

नमः पुञ्जिष्टेभ्यो निषादेभ्यश्च

वो नमः ॥ १४ ॥

पुञ्जीभूय तिष्ठन्तीति पुञ्जिष्टाः । जीवन्मुक्ता हि क्वचिद्व्युत्थानसमये वृत्तिक-
 दम्बकेनापि समन्वयन्ति क्वचित्त तूष्णीमेव निषादन्तीति निषादास्तेभ्यो नमः
 ॥ १४ ॥

नम इषुकृद्भ्यो धन्वकृद्भ्यश्च

वो नमः ॥ १५ ॥

समाध्यादौ साक्षिमात्रस्वरूपा अपि व्युत्थानदशायीं स्वभासेन इषून्व्यावहा-
 रिकजीवा धन्वानि कालात्मकानि मागुक्तानि च कुर्वते । व्यवहारदशासु व्यावहा-
 रिकजीवतादात्म्येन कालाद्यधीना इव तिष्ठन्तीति तेभ्यो नमः ॥ १५ ॥

नमो मृगयुभ्यः श्वनिभ्यश्च

वो नमः ॥ १६ ॥

मृगयवो व्याघ्रास्त इव वहिः क्रूरस्वरूपा अन्तः शीतला इति स्व(श्व)नि-
शब्देनोच्यन्ते ॥ १६ ॥

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च

वो नमः ॥ १७ ॥

यत्वारः पादाः पुच्छमेकमित्येवं पञ्चवृत्तिकोऽहं ममेति कर्णद्वयवती कामक-
र्मादिकलुषस्वभावा खल्वियमविद्यारूपैव यवितुमर्हतीत्यविद्यापरपर्यायाण्यज्ञानानि
शब्देनोच्यन्ते । तत्प्रकाशकाः साक्षिणः श्वपतयस्तद्रूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः ॥ १७ ॥

इति रुद्रभाष्ये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

— — —

चतुर्थादिष्वनुवाकेषु बहुवचनस्वारस्येन प्रतिदेहं प्रमातृचैतन्याद्भिन्ना एव सा-
क्षिण इत्याशङ्क्यं तृणीकुर्वन्नेक एव साक्षी न तद्भेद इत्याशयेनाऽऽहः नमो भवाय
चेत्यादिना—

नमो भवाय च रुद्राय च ॥ १ ॥

ननु महाशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणस्यास्य जगतः कौशलं कस्य बुद्धौ स्फुरति ।
कीदृक्स्वरूपा च सा बुद्धिर्यया खलु ब्रह्मादितृणपर्यन्ता अमी जीवा नियम्यन्ते ।
कस्मिंश्च विज्ञाते कैवल्यसंपदाविर्भवति । को वेदशो देव इत्युच्यते—नम इति ।
स्वतः स्फुरत्परमात्मैव हि देवः । एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इति श्रुतेः । स एव
सर्वस्वरूपो भवतीति भावः । तथा च श्रुतिः—आत्मा वा इदमग्न आसेत्युप-
क्रम्य स एवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवदिति । अस्यार्थः ।
इदं जगत्पुराऽऽत्मैवाऽऽसीत् । तद्भिन्नसत्ताकत्वाभावात् । ततः स देव आत्मानं
द्वेधाऽपातयत् । द्विधा चकार । ततस्तेन कारणेन पतिश्च पत्नी चेति व्यवहारास्प-
दोऽभूदिति । विचित्रशक्तेरात्मनः सकाशात्पृथङ् नैतास्ति माया नागत्याशयः ।
तदेवं सति विशुद्धसत्त्वप्रधाना शक्तिर्माया प्रकाशकत्वेन वर्तमान आत्मैव देव
इत्युक्तं भवति । तादृश्याश्च मायाया भ्रमप्रमाविलक्षणा काचिदस्ति निर्विकल्पिका

वृत्तिः । तस्यामेव हि जगन्निर्माणकौशलं स्फुरति । तथैव नियम्यन्ते खल्विमे जीवाः । नन्वेवंभूता सर्वज्ञबुद्धिरस्ति तर्हि प्रमातृबुद्धिपत्कुतो नोपलभ्यते साक्षिणेति चेत् । भ्रमप्रमाविलक्षणत्वादेव नोपलभ्यत इति ब्रूमः । यथा वा सुषुप्तौ सुखाद्यावरकवृत्तीनां तिसृणां सत्त्वेऽपि नोपलम्भ उभयविलक्षणत्वात्तथेयमपि । किंतु सुप्तोत्थितपरामर्शानुरोधेन ता यथाऽनुमीयन्ते तद्वदिहापि जगत्कार्यानुमेयत्वममुष्याः । नन्वेवं सति प्रमोपादानं भ्रमोपादानं तदुभयविलक्षणज्ञानोपादानं भिन्नमेव स्यादिति चेत्कौ नेत्याह । तथा हि—द्वे हि मायाशक्ती विक्षेप आवरणं चेति तत्राऽऽद्या लिङ्गादिब्रह्माण्डान्तं जगज्जनयति तत्र यल्लिङ्गशरीरं तदेव प्रमोपादानम् । यत्तु मलिनसत्त्वप्रधानमावरणमविद्याशब्दवाच्यं तदेव तु भ्रमोपादानम् । इदं च सुषुप्तौ भ्रमप्रमावैलक्षण्येनानुभूयत इति मायातो न भिद्यते । तृतीयस्योपादानं तु मायैवेति प्रागुक्तम् । तत्र लिङ्गशरीरमावरणं चेति द्वयमसंभेदेन स्थितं सज्जीवोपाधिः । इदं च जागरादौ बाध्यबाधकभावेन तिष्ठति । सुप्तौ तमपहाय तूष्णीमेवावतिष्ठत इति । यच्च पुनर्भ्रमप्रमाविलक्षणवृत्त्युपादानभूता माया मारमेश्वरोपाधिः सा न केवलं जगन्मात्रोत्पत्त्यादेर्हेतुरपि तु जीवोपाधेरपीति जगत इव तस्यापि तन्नियम्यत्वम् । ननु जडायाः कथं जगन्नियन्तृत्वमिति चेन्न । तत्रापि चिदाभासाङ्गीकारात् । तदैव शक्तिद्वयवदज्ञानस्य विशेषणोपाध्युपलक्षणत्वेन चैतन्यस्थापि भवति त्रैविध्यम् । तत्र विशेषणत्वं नाम विशेषणवृत्तिधर्माश्रयत्वे सति साक्षाद्व्यावर्तकत्वम् । यथा घटादौ नीलादेः । तेनाज्ञानविशिष्टा चिज्जीव इत्युक्तं भवति । उपाधित्वं च विशेष्यवृत्तिधर्माश्रयत्वे सति साक्षाद्व्यावर्तकत्वम् । यथा श्रोत्रादौ कर्णशुष्कुल्यादेः । तेनोपहिता चिदीश्वर इति सिध्यति । उपलक्षणत्वं च विशेष्यवृत्तिधर्माश्रयत्वे सति परम्परया व्यावर्तकत्वम् । यथा चन्द्रादौ शाखादेः । ततश्चाज्ञानोपलक्षिता चित्साक्षिभूता तमेव भान्तमनुभाति सर्वमित्यादिश्रुतिप्रसिद्धा । इयमेव तत्तदुपाधिप्रतिबिम्बित्वेन विभिन्नयोजीवेशयोस्तत्त्वंपदवाच्यार्थयोः पारमार्थिकस्वरूपभूतेति वेदान्तैः प्रमीयत इत्यवधेयम् । अथैवंभूतसाक्षिण एकत्वेन सर्वसाधारणतया प्रतीयमानत्वेन ममायं साक्षीति तत्तदभिमानविषयतया च जीवसाक्षीशसाक्षीति व्यवहारः कचिद्वेदान्तेषु न वस्तुतः । अरुङ्गाद्वितीयस्य तस्य भेदकोपाधेरेव खपुष्पापितत्वात् । चन्द्रादिवच्च । यथा वा बालानां ममैवोपरि चन्द्रो मया साकं पलायत इति व्यवहारेऽपि न वास्तवमेव चन्द्रः पलायते न वैकस्मिन्नेव

देशे वसतीति । कुतः । सर्वत्र सर्वेषां प्रकाशकत्वेन भासमानत्वात् । तद्वद्देशकालानवच्छिन्नपरज्योतीरूपः साक्षी सर्वत्र सर्वेषामात्मयित्वेन प्रतीयते । तदुक्तं—
व्यापृतेतिष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारीविवेकिनाम् । दृश्यतेऽभ्रेषु धावत्सु धावन्निव यथा शशीति । न च वैषम्यम् । प्रतीतिमात्रे तदुदाहृतेः । न चायं विषमो दृष्टान्त इति वाच्यम् । कुतः । द्वादशसहस्रयोजनपरिमाणश्चन्द्रो न खलु सर्वदेशव्यापक इति वक्तुं शक्यते । किंत्वेकदेश एव । अनावृतस्थितिकत्वेन सर्वैः सर्वत्रोपलभ्यते । नक्षत्रादिवत् । यथा वा तदपेक्षयाऽस्पपरिमाणानां नक्षत्रादीनामनावृतत्वेन सर्वत्रोपलम्भ इत्येतावदेव । न ह्येवमात्मा । तस्य सर्वगतत्वश्रवणात् । भैवम् । प्रतीतिमात्रेण तदुदाहारेरिति सर्वत्र प्रतीयत इत्येतन्मात्रस्य दृष्टान्तत्वेन विवक्षितत्वान्न दोष इत्यर्थः । तदेवं न भाति नास्ति कूटस्थ इत्याद्यवरणरूपभ्रमस्य तद्विषरीतप्रत्ययात्मकप्रमायाश्च जीव एवोपलम्भाद्धमोक्षादिव्यवस्थाऽपि तत्रैव नेश्वरे । तत्र तदुभयप्रत्ययादर्शनात् । कथं तर्हि जगत्सर्जनादिकर्तृत्वमिति चेदुच्यते । दोषप्रयुक्तभानविषयत्वं प्रातीतिकस्य व्यावहारिकस्य वा जगतो लक्षणम् । तत्र स्वमगतप्रातीतिकजगत उपादानं दोषो निद्रारूपः । तत्प्रयुक्तभानविषयत्वस्य तत्र सूत्वात् । ननु स्वप्नसृष्टिः किमीशकल्पिता जीवकल्पिता वा । किं तावत्प्राप्तमीशकल्पितेति । कुतः । य एषु सुषेष्टेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण इत्यादिश्रुतिषु तथा दर्शनात् । किंच—यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने । अथ पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति त एवैनं हन्तीत्येवमादिभाविशुभाशुभसूचकस्य सर्वज्ञेश्वरमन्तराऽनुपपत्तेः । न हि जीवस्य भविष्यज्ञानमस्ति । अपि च क्वचिदपल्लुतं व्याघ्रोऽप्येनं भीषयति पिशाचादिश्च । न हीदं जीवकर्तृकत्वे संभवति । एवं मन्त्रोपदेशोऽपि तत्र प्रतीयते । यदाहुः । नृसिंहार्कवराहाणां प्रासादश्रवणस्य च स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते मालामन्त्रे च पार्वति । वैदिकेषु च सर्वेषु सिद्धादान्नैव शोधयेत् ॥ इति । न हीदं शास्त्रशरीरभीश्वरं विना संगच्छते । तस्मादीश्वर एव भूतभवद्भविष्यज्जीवकर्मसंस्कारश्रयप्रकृतिप्रवर्तकत्वेन वर्तमानस्वप्नप्रपञ्चनिर्मातृभीष्ट इति चेन्न । यत्रैष स्वप्नया चरति, इत्युपक्रम्य स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत इति श्रुतिः । नेत्रे जागरणं विद्याकण्ठे स्वप्नं विनिर्दिशेत् । इत्यपि श्रुतिः शरीरान्तरे स्वाप्नपदार्थोत्पत्तिं दर्शयति । किंच न तत्र रथा न रथयोगाः पन्थानो वा भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजति

स हि तस्य कर्तेति श्रुतिर्जीवकर्तृकमेव तं दर्शयति । न च पूर्वोक्तानुपपत्तिः । सोपपत्तिकत्वात् । तथा हि । द्वये खल्वपी संस्कारा इष्टमदा अनिष्टमदाश्च । तत्र विहितकर्मजन्य इष्टास्तद्विपरीता अनिष्टाः । ते च सर्वे जीवोपाधावन्तःकरण एव तिष्ठन्ति । कुतः । जीवस्यैव कर्मकर्तृत्वश्रवणात् । ततश्च स्वानुष्ठायमानपापपुण्यात्मककर्मणां संस्काररूपेणावस्थितानां कालान्तरे तस्यैव भोक्तृत्वश्रवणाच्च । न च तर्हि ईश्वरस्यान्यथासिद्धत्वं स्यादिति वाच्यम् । संस्कारोद्बोधककालशक्तिप्रवर्तकत्वेन तस्यान्यथासिद्धत्वात् । कालस्तु गायैवेत्यन्यत् । यदि तत्संस्कारनियन्त्री कालशक्तिर्न स्यात्तर्हि संस्काराणां स्वातन्त्र्येण स्वप्नमेवाविच्छेदेन प्रवर्तयेयुस्ते सदा जागृतमेव वा । न ह्येतदस्ति । किंतु व्यवस्थयैव स्वप्नजागृतसुषुप्तयो जायन्ते । तस्मात्तत्संस्काराद्बोधप्रतिबन्धाभ्यामपि तथा, इतोऽपि न ह्यस्ति तेषां स्वातन्त्र्यम् । कुतः । सत्यसंकल्प ईश्वरः रवाध्यस्तकालशक्त्या यावत्स्वप्नसूक्ष्मविषयभोगप्रदकर्मसंस्कारानुद्बोधयति तावत्स्वप्नावस्था, यदा तु तान्प्रतिबध्नाति तदा जाग्रदित्यादिव्यवस्थोषलम्भात् । ननु तर्हि ईश्वरस्यैव बाह्यप्रपञ्चवत्स्वप्नप्रपञ्चस्याप्यसाधारणकारणत्वात्केनास्य जीवकल्पितत्वमिति चेत्तदधिष्ठानेन कल्पितत्वमिति ब्रूमः । यद्धि यज्ज्ञानान्निवर्तते तत्तदज्ञानकल्पितं भवति च प्यावहारिकजीवज्ञानात्प्रातीतिकर्जावतज्जगन्निवृत्तिस्ततस्तदीयनिद्रादोषेण तत्र स कल्पित इति । ननु तर्हि निद्राकल्पित एवास्तु, कुतो जीवकल्पित इत्युच्यत इति चेन्न । निद्राकल्पितत्वेऽपि तद्रूपहितजीव एव तद्व्यवहारौचित्यात् । उपाधिमन्तरा ईश्वरस्यैव जीवस्यापि स्वतः कर्तृत्वायोगात् । नन्वीश्वरस्यैव सर्वाधारतया स्वप्नप्रपञ्चाधिष्ठानत्वमप्यस्ति चेन्न । तथा सति बाह्यप्रपञ्चपदसर्वसाधारणत्वापातात् । बाह्यो हि प्रपञ्च एकरूप एव सर्वैरुपलभ्यते न खलु तथा स्वप्नप्रपञ्चा जीवभेदेन तद्भेददर्शनात् । तस्मात्सिद्धे मनोवच्छिन्नजीवचेतन्य एव स्वप्नप्रपञ्चाधिष्ठानत्वेन तत्कल्पकत्वे येन येन इष्टानिष्टाद्यन्यतरसंस्कारेणाऽऽहितं मनो भवति यत्तथैव भूतसूक्ष्माणि दिव्यस्त्रीदिव्यपुरुषव्याधिपिशशाचाद्याकारं प्रदर्शयन्ति । एवं मन्त्रादिलाभप्रयोजकादृष्टसंस्कार उद्बुद्धे तदुपदेशोऽपि संगच्छते । किंच संस्कारो नाम भ्रमप्रमाविलक्षणवृत्तिविशेषस्तदुपरि भूतसूक्ष्मैराकारकल्पनायामपि तदन्तराभासो जीवचेतन्यस्यैव तत्तादात्म्यपन्नत्वात् । ननु जडानां भूतसूक्ष्माणां कथमाकारसर्गपकत्वमिति चेदाभासोज्ज्वलितत्वादिति ब्रूमः । तत्रापि जीवाभास एव कुतः । भूतसूक्ष्माणां कार्यत्वेन व्यष्टौ

समष्टावपि जीवोपाधित्वनिर्णयात् । अव्याकृतमात्रमीश्वरोपाधिरिति । तदेवं स्वप्न-
प्रपञ्चस्यैव बाह्यप्रपञ्चस्याप्यविद्यादोषप्रयुक्तभानविषयत्वान्मिथ्यात्वं सिद्धम् । वस्तु-
तस्त्विदमवधेयम् । सद्योजातवामदेवाधोरतत्पुरुषेशानसंज्ञानि पञ्च ब्रह्माणि । तत्र
सद्योजातः शिशुरिव प्रतीतिविषयत्वात्स्वप्नकालीनस्तैजसजीवः सद्योजातशब्दे-
नोच्यते । तदीयघटकुकुड्यादि सर्वं जगत्प्रातीतिकमेव । जाग्रत्यदर्शनादल्पकालाव-
स्थायित्वाच्च । एवं वामं वसुस्रक्चन्दनवनितादि तेन दीव्यतीति वामदेवः । जाग्र-
त्कालीनो विश्वजीवस्तदीर्थं सर्वं पृथिव्याकाशादि व्यवहारक्षमत्वाद्व्यावहारिकं
निगद्यते । अनयोश्च परस्परमनुसंधातव्यानुसंधातृरूपत्वान्नियम्यनियन्तृभावः । जा-
ग्रत्काले तु न किञ्चित् । तथा सुषुप्तौ संशयविपर्यासादिक्लेशाभावादधोरः शान्तः ।
यो हि क्लिष्टः स वैवश्येन वरूरो भवति । तेन प्राज्ञजीवस्त्वधोरशब्देनाभिधीयते ।
अयं च विश्वजीवस्यैवावस्थाविशेषत्वान्न तस्मादतिरिच्यते । तदेवं विश्वतैजसप्रा-
ज्ञास्त्रयोऽप्यमी प्रतिबिम्बरूपत्वान्मृषाभूता एव । अमीषां च बिम्बस्थानीयोऽसङ्गा-
द्वितीयः स्वप्रकाशपरमानन्दरूपः साक्षी प्रत्यगात्मा तु तत्पुरुषशब्देन व्यवहियते ।
“ तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तमाहुर्ग्र्यं पुरुषं महान्तं, तमेव चाऽऽद्यं पुरुषं
प्रपद्ये ” इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिषु साक्षिचैतन्य एव तादृशव्यवहारदर्शनात् । स
चासौ पुरुषश्च तत्पुरुष इति कर्मधारयः प्रसिद्धः । पुरुष इत्यर्थः । अयं च
विशुद्धसत्त्वप्रधानमायोपाधिकत्वादीश इति तत्तज्जीवाध्यारोपविषयत्वात्पारमार्थिको
जीव इति च व्यपदिश्यते । सोऽयमेक एव न नाना । तदुपाधेरैकरूपत्वात् ।
न चैकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गः । आवरणसहकृततत्तल्लिङ्गशरीरावच्छेदेन व्यावहा-
रिकभेदस्वीकारानुपपत्त्यभावात् । बिम्बभावानाक्रान्तमनुपहितपूर्णचैतन्यं परमात्मा स
एवेहेशानशब्देन कथ्यते । अनयोश्च प्रत्यगात्मपरमात्मनोर्नाममात्रभेदो न स्वरूपत
इति प्रागेवावोचाम । तेनेयमत्र प्रक्रिया । स्वतः स्फुरत्परमानन्दरूपस्य परिपूर्ण-
चैतन्यस्यैकदेकदेशकल्पिता विशुद्धसत्त्वधाना माया नाम शक्तिस्तेन यावन्मायावृ-
तचैतन्यं तावत्प्रत्यगात्मा । अनावृतचैतन्यं तु परमात्मेति भेदः । तस्याश्च मायायाः
स्थूलसूक्ष्मशरीरात्पादिका एका विक्षेपशक्तिः । परा तु दृग्दृश्ययोर्बाहिः साक्षिज-
गतोश्च भेदे सत्यभेदसमर्पिकाऽऽवरणशक्तिर्नाम । अनयोश्च नियन्त्री स्वयमेव
भवति कालशक्तिरूपा । इयं च प्रथमं महत्तत्त्वाभिधामादायाऽऽविर्भवति । ततो
बहिरहंकाररूपेण ततो बहिर्भनोरूपेण ततो बहिरिन्द्रियादिरूपेणेत्येवं श्रुतिरप्यवो-

चत् । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धेर्बुद्धेरात्मा
महान्परः । गहतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं चिकित्सा काष्ठा
सा परा गतिरिति ॥ एवं च साक्षिण एव प्रत्यगात्मनस्तत्तदन्तःकरणारोषतदप-
वादाभ्यां जीवत्व ईश्वरत्वे च सिद्धे तदुभयापवादेन शुद्धत्वमपि सिध्यति । “ ब्रह्म
वेद ब्रह्मैव भवति । भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः । तथा विद्वान्नामरूपद्विमुक्तः ।
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ” इत्येवमादिश्रुतिभ्यः । ननु मोक्षे विशेषज्ञानमस्ति
वा न वा । आद्ये सविषयत्वापत्तिः । द्वितीये सार्वज्ञ्यभङ्ग इति चेन्न । अकरण-
त्वात्तदयोगेऽपि तरयाक्षतत्वात् । करणानीन्द्रियाण्येव ब्रूहि खलु मनःषष्ठानि
स्वस्वस्थाने स्थित्वा विशेषविज्ञानं जनयन्ति । तदभावान्न स्वत एवाऽऽत्मने
विशेषविज्ञानं निर्विषयज्ञानरूपत्वात् । तथाऽपि तु सार्वज्ञ्यं न हीयते । सदैवा
स्वप्रकाशत्वेन सकलावभासकत्वात् । ननु तर्हि सुषुप्तात्को विशेष इति चेत् ।
अपरिच्छिन्नत्वस्यैव वैशेष्यात् । चित्तिर्हि खलु तत्तदवच्छेदकोपाधिवशात्परिच्छि-
न्नेव न सर्वं भासयतीत्यसर्वज्ञैवोच्यते दीपादिवत् । यथा वा दीपो घटादौ निहि-
तस्तदन्तर्वर्तिप्रदेशमेव भासयति । बहिः कुड्यादिव्यवहितदेशे निहितस्तावन्तमेव ।
ततोऽपि बहिर्विततदेशेऽवस्थापितस्तावन्तमपि प्रकाशयति । तथा चिन्मयात्माऽपि
व्यष्टिदेहेऽपरिच्छेदे विगलिते विराडस्मीति मन्यते । तस्मिन्नेति सूत्रात्मेति हिरण्य-
गर्भ इति । तत्परिच्छेदाभाव ईशोऽस्मीति । तदुपाध्यभावे तु स्वाध्यस्तं सर्वं
कार्यकारणात्मकं जगदवभासयत्यपरिच्छिन्नत्वस्यैव सुषुप्तद्वैशेष्यं विशेषोऽस्ति ।
ननु तर्हि मोक्षे सुखं संवेद्यते न वा । आद्ये सविशेषत्वापत्तिः । द्वितीयेऽपुरुषार्थ-
त्वापत्तिरिति चेन्न । चित्तेः स्वातिरिक्तसंविदनन्तरानपेक्षत्वात् । यद्यपि चित्तिर्वा-
हविज्ञाने करणादिसाधनमपेक्षते तथाऽपि स्वानन्दानुभवे नास्त्यापेक्षा । स्वतः-
स्फुणरूपत्वात् । अन्यथा प्रस्तरादिभिरविशेषापत्तेः । ननु तर्हि ज्ञातृज्ञेयभावो
दुष्परिहर इति चेन्न । स्वरूपानतिरेकात् । सौरालोकाविवत् । यथा वा सौरा-
देज्योतिषः सत्ताप्रकाशानन्दाः स्वरूपभूता एव नातिरिच्यन्ते । यद्वा सूर्यादिवदि-
त्येव दृष्टान्तत्वेनोपादेयम् । ततो यथा सूर्योऽस्ति सूर्यो भातीति प्रियश्चेत्येवं त्रयः ।
अथवा प्रकाशोष्णकिरणाल्लयो यथा सूर्यादेर्न भिद्यन्ते तथा ज्ञानमात्रस्वरूपस्य
ब्रह्मणः स्वरूपभूता एव सत्ताप्रकाशानन्दा नातो भिन्नास्तेन तत्र ज्ञातृज्ञेयभावान-
नङ्गीकारादिति । अत्र केचित् । निर्विशेषज्ञानरूपं ब्रह्म तस्य सत्ताप्रकाशानन्दा-

स्रयो धर्मास्तत्रैक आनन्दरूपो धर्म एव निखिलजगदाकारेण परिणमते । ततश्च ब्रह्मणो धर्मित्वात्तदेकदेशपरिणामस्वीकारेणैव सर्वोपपत्तौ किं प्रकृत्यन्तरकल्पनेनेत्याहुः । परे तु न ब्रह्मणि धर्मधर्मिभावो निर्विशेषणत्वश्रवणार्तिकतु तस्मिन्नध्यस्ताऽनादिभावस्त्वाऽविद्या सत्ताप्रकाशयोर्द्वयोरुपजीव्यत्वेन तदीयानन्दांशमात्रमावृत्य विचित्रमिन्द्रजालं जनयति । विद्यया तु तदपहनवेऽनावृतानन्दरूपेण स्वत एव ब्रह्म विराजत इत्याहुः । कः श्रेयानुत्तरः । ननु ब्रह्मणः स्वतो ज्ञातृत्वायो गाज्जीविस्त्वाऽऽविद्यकत्वेन तत्पूर्वमभावात्को वा ब्रह्मण्यविद्यामध्यस्यतीति चेत् । अविद्यैवेति ब्रूमः । तस्या एव स्वपराध्यासे कारणत्वात् । अथ च विचारक्रमः । विश्वापरपर्यायो व्यावहारिकजीवो ब्रह्म तदीयोपाधिभूता बुद्धिर्मूलप्रकृतिस्तस्यामज्ञायमानं सूक्ष्मभोगप्रदमदृष्टं संस्काररूपेणावस्थितं यदा फलोन्मुखं भवति तदा तत्प्रथमं निद्रारूपमावरणं जनयति । तेन पूर्वरूपविस्मरणं पूर्जगददर्शनं भवति । उभयोरेव वा विस्मरणादर्शने जायते । आवरणमन्तर्ग विक्षेपानुपपत्तेरिति । तदुत्तरमतीतानागतवर्तमानसंस्काररूपमदृष्टं स्वामजगदाकारेण परिणमते । ततः प्रच्युतपूर्वानुसंधानो व्यावहारिको जीवोऽदृष्टोपस्थापितं स्वाप्नशरीरं तद्भोग्यविषयादिकमेवानुसंधानः सूक्ष्मविषयभोक्तारं तैजसमेवाऽऽत्मानं मन्यतेऽतो भ्रमति च । निद्रादोषनिवृत्तौ तु विहितपूर्वानुसंधानः स्वरूपेणैव राजते । यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् । स एव प्रतिबुद्धस्य नैव मोहाय कल्पत इति । तत्र निद्रादोषनिवृत्तौ कर्मक्षयो वा परप्रयत्नो वा हेतुः । एवमस्मीति प्रत्यगभिन्नपरमात्मानुसंधानवती महत्तत्त्वारूपा बुद्धिर्मूलप्रकृतिस्तस्यां चाविज्ञायमानस्थूलविषयभोगप्रदमदृष्टं संस्काररूपेणावस्थितं फलोन्मुखं सदावरणं जनयेत् । तच्चासत्त्वापादकमभानापादकं चेति द्वेधा प्रत्यक्परमात्मोभयनिष्ठं ततस्त्वतीतानागतवर्तमानसंस्काररूपमदृष्टं जाग्रज्जगदाकारेण परिणमते । ततस्तादृशबुद्ध्यवच्छिन्नः प्रत्यगात्माऽपि गलितपूर्वसंधानः कर्मोपस्थापितं किमपि स्थूलसूक्ष्मशरीरमेवानुसंधानः परिभ्रमति संसारपर्यावर्ते । अथ कदाचिद् गुर्वादिप्रयत्नेन वा कर्मक्षयेण वा तादृशावरणनिवृत्तौ प्रत्यगभिन्नपरमात्मसाक्षात्कारवान्महति महीयते स्वमहिम्नि तदा तु जीवन्मुक्त इत्यापाद्यते । तदुक्तमभियुक्तैः—अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमात्मानं बुध्यते तदेति । ततश्च तदधिगम

उत्तरपूर्वाघयोः रश्मेषु विनाशौ तद्व्यपदेशादिति न्यायान्न जीवन्मुक्तस्य संचित-
क्रियमाणयोः पापयोः संश्लेषः संभवति । देहारम्भकस्य तु तत्त्वज्ञानो-
त्पादकत्वाच्च विनाश उपपद्यते । अत एव तदुपक्षयपर्यन्तं जीवन्मुक्त-
स्यामि बाधितानुवृत्त्या संसारित्वं संगच्छते । तस्मिन्नुपक्षिणे तु न तस्य प्राणा
सुप्तकामन्तीति श्रुतेः । अन्तःकरणतत्संस्कारविशिष्टाज्ञानेऽपि नाशमात्यन्तिकं गते
सत्यखण्डस्वभकाशपरमानन्देन विराजते न पुनरावर्तते योगी । “ न स पुनरा-
वर्तते ” इत्यादिश्रुतिभ्यः । ननु स्वप्नप्रमथस्य जीवकल्पितत्वेऽपि बाह्यप्रमथस्य
तत्कथं युक्तिसहाभिति चेन्न । ईशेन स्वरूपतः कल्पितोऽप्ययं व्यवहारास्पदो जीवक-
ल्पित एव । यथैकस्मिन्नीशकल्पितस्त्रीपिण्डे भार्येति मातेति कन्येत्यादिव्यवहार-
स्तत्तज्जीवकल्पितः, एवं जीवत्वाविशेषेऽप्याधिकारिकैरीशकल्पितबुद्धिभिर्महानुभा-
वैर्ब्रह्मादिभिर्वेदशास्त्रादिरूपेण यौ विधिनिषेधौ कल्पितौ तावन्नुतिष्ठन्त्यस्मदादयः ।
भवति च तत्तथा यद्यथा तैरुपपादितं तदभिन्नत्वादित्याद्यवन्तरविशेष ऊहनीय
इत्यलं पल्लवितेन । प्रकृतमनुसरामः । भवति सद्य इति भवः । स्वभावस्थाभिमानी
तेजसः । रोदयति संसारक्लेशैरिति रुद्रः । जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः । “ अनी-
शया शोचति मुह्यमानः ” इति श्रुत्यन्तरात् । तदुभयाभ्यां नमः । चकारावृत्ति-
स्त्रोभयत्र नमः शब्दान्वयाय बोध्या ॥ १ ॥

नमः श्रुत्वाय च पशुपतये च ॥ २ ॥

शर्वः परिलीनोपाधित्वाद्वैतकौर्यः । प्राज्ञः सुषुप्त्यभिगानी । अविद्यावृत्तत्वेन
पशुस्थानीयानामेषां पतिः प्रकाशकः साक्षी प्रत्यगात्मा पशुपतिरित्युच्यते ताभ्यां
नमः ॥ २ ॥

एवं व्यष्टिदेहाभिमानिनो निरूप्य समष्ट्यभिमानिनस्तामाह -

नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ ३ ॥

तत्र तमः प्रधानविक्षेपशक्त्यभिमानित्वा नीलग्रीवो विराट् तस्मै नमः सैव । लि-
ङ्गेशरीरहेतुर्मलिनसत्त्वप्रधाना तदभिमानी सूत्रात्मा शितिकण्ठस्तस्मै नमः ॥ ३ ॥

नमः कपर्दिने च व्युत्पत्तेशाय च ॥ ४ ॥

स एव कपर्दी तपस्वी हिरण्यगर्भश्चोक्तस्तस्मै नमः । विद्याशक्तिप्राधान्येन
व्युत्पा विकीर्णाः स्थिरचरजातयः केशस्थानीमा यस्मात्तस्मै । यद्वा व्युत्पत्तः सर्वतः

मसूतः केशो व्याकृताकाशरूपो यस्य. “ एतास्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश.ओत -
मोतश्च ” इति श्रुतौ मायोपाधावाकाशशब्दप्रयोगदर्शनात् । व्योमकेश इति तन्ना-
मप्रसिद्धेश्च ॥ ४ ॥

नन्वेकस्यैव कथं विराड्विश्वादिरूपमत आह—

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च ॥ ५ ॥

अक्षरथागीयवृत्तीनां वैशद्यभालिन्यतारतम्यात्तदुपाहितचित्तेरपि तथा व्यवहार-
संभवादिति भावः । शतं धन्वानि क्षगलवादिकालरूपाणि यस्य तस्मै नमः ॥ ५ ॥

नमो गिरिशाय च शिपिविधाय च ॥ ६ ॥

गिरौ प्रपञ्चे जीवेशादिरूपेण शेते तस्मै । शिपयो जीवास्तदनुसंधाता शि-
पिविष्टः सर्वसाक्षी रुद्रः । “ यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिर्यज्ञ एव पशुषु पति-
तिष्ठति ” इति श्रुतेः । तस्मै नमः ॥ ६ ॥

नमो मीढुधमाय चेपुमते च ॥ ७ ॥

स एव कर्मानुरूपेशितृत्वान्मीढुधमः कामसेवकः । यत इषमाञ्जीवाश्रयः ।
तदर्थमेवेशस्य सृष्ट्यादौ प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

इत एकादशयजुस्सन्तं साक्षिण उपाधिधर्मैस्तथा तथा व्यपदेशभाक्त्वमुच्यते—
नमो ह्रस्वायेत्यादितः प्रथमायेत्यन्तेन—

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च ॥ ८ ॥

नमो बृहते च वर्षीयसे च ॥ ९ ॥

नमो वृद्धाय च संवृध्वने च ॥ १० ॥

नमो अग्रियाय च प्रथमाय च ॥ ११ ॥

“ बुद्धेर्भुजेनाऽऽत्मगुणेन चैव ह्यराग्रमात्रो ह्ययरोऽपि दृष्टः । अणोरणीयान्म-
हतो महीयान् ” इत्यादिश्रुतिष्वपि तथोक्तत्वात् । यद्वा संवृध्वनेचेत्यन्तमेव सा-
क्षिस्वरूपनिरूपणम् । इतस्तु परपदमारुरुक्षोर्योगिनो भूमिकारोहक्रम उच्यते । तत्र
बहूनां संसारिजीवानामग्रे पुरः पुरो यातीत्यग्रियः । तत्प्रयोजनं तु वात्सल्यात्तेषा-
मप्युपदेशार्थमाह्वानाय । अथवा अग्रे सद्गुरोः समीपे स्वात्मलाभार्थं यातीत्य-
ग्रयो मुमुक्षुः । “ तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ” इति श्रुतेः । स पुनर्गु-

रोरुपदेशमवाप्य ततः प्रथमां भूमिं जेतुमुपक्रमते तदा प्रथम इत्युच्यवे । तथा चा-
यमत्र प्रयोनः । शमादिसंपन्नो रहोदेशे स्थिरसृखमासनमासीनो योगी प्राणायाम-
पुरःसरं गुरुक्तयुक्त्या स्थूलदेहासङ्गेन बहिरिव मनो विधाय तत्प्रथमं पादादिजा-
नुपर्यन्ते भूस्थाने धारयन्नीहारमात्रं पश्यति । पादादिजानुपर्यन्तमङ्गं तु तिरोहित-
मिव न पश्यति । ततो लुप्ताधरभागो जानूपरिदेहो नीहृत्प्रमथो संदिग्धाविपर्यस्ततया
प्रतीयते । सोऽयं भूमिजयः । एवं जान्वादिषट्कन्ते जलस्थाने चित्तं धारयतो
धूममात्रं दृश्यते स्यान् घ तिरोधीयते ततः पायूर्ध्वभागमात्रं बूमधूसरमिवाऽऽभा-
ति । एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । तदिदमुक्तं भगवता याज्ञवल्क्येन—

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते । आजानोः पायुपर्यन्तमथां स्यान्
प्रकीर्तितम् ॥ १ ॥

आपायोर्हृदयान्तं यद्वह्निस्थानं तदुच्यते । ह्यन्मध्यात्तु भ्रुवोर्मध्यं यावद्वायुकुलं
भवेत् ॥ २ ॥

आभ्रमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशमिति चोच्यते । पृथिव्यां वायुमास्थाय लका-
रेण समन्वितम् ॥ ३ ॥

ध्यायंश्चतुर्मुखाकारं ब्रह्माणं सृष्टिकारणम् । धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजय
माप्नुयात् ॥ ४ ॥

वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् । स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं शुचि-
स्मितम् ॥ ५ ॥

शुद्धरफटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम् । धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वरोगैः प्रमु-
च्यते ॥ ६ ॥

वह्नावानिलमारोप्य रेफाक्षरसमन्वितम् । त्र्यक्षं वरमदं रुद्रं तरुणादित्यसंनि-
भम् ॥ ७ ॥

मस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरेत् । धारयेद्घटिकाः पञ्च वह्निनाऽसौ
न दहते ॥ ८ ॥

मारुतं मरुतां स्थाने वर्णदेवसमन्वितम् । धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगे
भवेत् ॥ ९ ॥

वर्णोऽत्र यकारः । देव ईश्वरः । रूपं रुद्रवत् ।

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् । बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं
सदाशिवम् ॥ १० ॥

चित्तेन चिन्तयेत्स्वस्थं मुहूर्तमपि चिन्तयेत् ” इति । पञ्चभूतजयफलं श्रुतिर-
प्याह—“ पृथिव्यप्तेजोनिष्ठत्वे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य
रोगौ न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ” इति । सेयं पञ्चभूतजया-
त्मिका प्रथमा भूमिः । अनयैव प्राणजयोऽपि भवति । यत एव क्षुत्पिपासादिनि-
वृत्तिराकाशगमनपरकाथप्रवेशाद्यपि सिध्यतीत्यन्यत्र विस्तरः । किंवास्यां भूमौ
विजितायां विशिष्टान्तर्धानारूपा सिद्धिरुपतिष्ठते । तद्यथा—समीपे वसन्नपि योगी
न दृश्यते । वदन्नपि न श्रूयते । प्रसूतगन्धोऽपि नावधिरयते । सशरीरीऽपि न स्पृ-
श्यते । सरसोऽपि न स्वाद्यत इति । ततश्च प्रथमभूमिकारूढाय तस्मै नमः ॥ ८
॥ १० ॥ ११ ॥

इदानीं द्वेन्द्रियजयात्मिकां द्वितीयभूमिकारूढमाह—

नम आशवे चाजिराय च ॥ १२ ॥

मनस्यवाहित एव चक्षुरादीनां स्वस्वविश्रयशक्तिर्नान्यथा । तथा च श्रुतिः—
“ अन्यत्रमना अभूवं नाशृणवम् ” इत्यादिः । मनसैव पश्यति मनसैव शृणोति,
इत्यादिश्च । “ यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति ” इति श्रुत्यन्तराच्च वागा-
दीनां मनोनियम्यत्वम् । तदेवं सिद्धे तत्तादिन्द्रियाणां मनोमात्रभावनादादृश्यं यतो
यतो विषयविशेषे मनः पतति तत्र तत्रेन्द्रियाण्यपि पतन्ति । तं तमवगच्छन्ति च
विषयम् । दूरदेशदर्शनदूरश्रवणाद्या सिद्धिरुपतिष्ठते यस्मै स आयुर्व्यापको यतोऽ-
संनिहितदेशेऽपि लब्धवृत्तिकोऽजिरस्तस्मै तस्मै च नमः । भगवद्विभूतित्वादिति
भावः ॥ १२ ॥

मनोजय एव तृतीयभूमिका तत्सिद्धौ मनोगतिः सिध्यतीत्याभिप्रेत्याऽऽह—

नमः शीघ्रिरयाय च शीर्भ्याय च ॥ १३ ॥

“ आत्मा बुद्ध्या सभेत्यार्थान्मनो युक्ते विवक्षया ” इत्यादौ करणभूतस्य
मनसः प्रमातृनियम्यत्वावधारणात्तन्मात्रभावने बालमूकादिवज्जिर्मनस्कृतं स्वत एव
जायते । सोऽयं मनोजयः । प्रमाता चाहंकारावच्छिन्नचैतन्यमिति प्रागुक्तम् । इदं
च कृतपञ्चभूतजयस्यैव । नाकस्मात्प्रथमादिभूमिमुलङ्घ्य प्रकृतभूमिमारोहतो मनो-

गत्यादि सिध्यतीत्येवमग्रेऽपि बोध्यम् ॥ १३ ॥

नमं ऊर्ध्वाय चावस्वन्याय च ॥ १४ ॥

अहंकारोऽपि द्वेधा । सामान्यरूपो विशेषरूपश्च । तत्रास्मीतिप्रत्ययमात्रशरीर आद्यः । ममेदमित्यहमिति विशेषणामिव्यक्तोऽपरः । तत्र विशिष्टाहंकारजयात्मिका मधुमती नाम भूमिः । यामधिकृत्योक्तं पतञ्जलिना—“स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गादिति” । स्थाने तिष्ठन्तीति स्थानिनो देवास्तैरुपनिमन्त्रणे कृते सति सङ्गस्मयौ न कर्तव्यमिति तदर्थः । ननु महानुभावास्ते किमिति मनुष्यमुपनिमन्त्रयन्त इति चेत्तददृष्टनिष्पन्नितत्वादिति ब्रूमः । तथा हि । ब्रह्माविष्णुमहेशैः सस्त्रीकैर्विना शक्रादिपिपीलिकान्तजीवानामस्ति खलु पुण्यापुण्यमयमदृष्टम् । तच्च स्थूलदेहाश्रयमन्तरा सुखदुःखप्रदानाक्षममिति प्रातीतिकव्यावहारिकान्यतरशरीरमपेक्षते । यथा वा—वृत्रहन्तुरिन्द्रस्य ब्रह्महत्यादोषो दुःखं दित्समानः पलितकेशं रक्तपटं बीभत्सतरं स्न्यादिशरीरमाश्रितवान् । यथा वा स्वमादौ दुःखप्रदमदृष्टं विश्वस्तादिरूपमाश्रित्य समाश्लिषति सुखप्रदमपि । तथा च श्रूयते—“यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वमेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वमनिदर्शने” इति । ततश्च त इन्द्रादिदेवास्तदीयसत्त्वोत्कर्षमसहमाना उपनिमन्त्रयन्ते । इमा रामाः सुधेयं जरामृतबुहारिणी देवयानमिदमपूर्वमारुह्यतोमायुष्मतेत्यादि । यद्वा तदीयपुण्यादृष्टपरिणामविशेषा एव ते देवा उपनिमन्त्रयन्त इति । ननु तेषां कुतः प्राक्सिद्धविमानादीनीति चेददृष्टकल्पितान्येवेति ब्रूमः । स्वर्गोऽपि तथा नव्य एव । तदुक्तं योगवासिष्ठे—“त्रसरेणूदरेऽपीन्द्रः पश्यति स्म जगत्त्रयम्” इति । ततश्च तादृशविशिष्टाहंकार इहोर्मिशब्देनोच्यते । अहंकारोर्मयो भूय उत्पद्यन्तेऽविवेकिनः । इति वचनात् । तज्जयी ऊर्ध्वस्तस्मै नमः । अस्मितामात्रजयाद्बहुकायनिर्माणसामर्थ्यम् । तथा च पातञ्जलसूत्रम्—“निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रादिति” । शारीरकसूत्रं च—“प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति” इति । ततश्चास्मितामात्रमनुसंधतो विक्षेपावरणराहित्यादशब्दस्थानवदैकाग्र्यं जायत इति । तदेतदाह—अवस्वन्याय चेति । अवस्वने स्थिरजल इव स्वरूपे तिष्ठतीत्यवस्वन्यस्तस्मै नमः ॥ १४ ॥

नमः स्रोतस्याय च द्वीप्याय च ॥ १५ ॥

“ सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति ” इति श्रुतौ चिदात्मनः सलिलतुल्यत्वा-
पादनात् । स्रोतसि प्रवाहवद्वाहके संसारे तिष्ठति जीवरूपेणेति स्रोतस्यस्तस्मै ।
द्वीप इव समष्टिमायोपाधावीशरूपेण तिष्ठतीति द्वीप्यस्तस्मै नमः ॥ ३५ ॥
इति रुद्रभाष्ये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अतीतेऽनुवाके पञ्चविधभूमिकाजय उक्तः । इदानीं प्रत्यगात्मस्वरूपमुच्यते—
नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च ॥ १ ॥

एक एव परमात्मा विशुद्धसत्त्वमायोपाधिकः सन्निधिर इति स्मृत्यते । मलिन-
सत्त्वप्रधानलिङ्गशरीरोपाधिकः सञ्जीव इति । अनयोश्चोपाध्योः साक्षिमात्रमेकमेव
चैतन्यं प्रत्यगात्मपरमात्मशब्दैर्व्यवाहियते । तत्र विचारेण बुद्धैर्निर्विचारवैशारद्येऽ-
भ्यात्मप्रकाशो वर्तमानः तत्र प्रज्ञेत्युक्तलक्षणायां षष्ठ्यां भूपौ स्थितोऽवस्थात्रय-
साक्षी प्रत्यगात्मा विद्यैश्वर्यादिभिरधिको ज्येष्ठः स एव विस्मृतस्वरूपो भ्रान्त इव
संसारीव वर्तमानः कनिष्ठस्तस्मै तस्मै च नमः ॥ १ ॥

नमः पूर्वजाय चापरजाय च ॥ २ ॥

स न देहात्मागेव सिद्धः पूर्वजः । देहाद्युत्पत्त्यनन्तरमपि तत्तदवस्थापाप-
कोऽपरजस्तस्मै तस्मै च नम इति पूर्ववत् ॥ २ ॥

नमो मध्यमाय चापगल्भाय च ॥ ३ ॥

मध्यमस्तरुणावस्थासाक्षी । अपगल्भो बाल्यावस्थासाक्षी तस्मै नमः ॥ ३ ॥

नमो जघन्याय च बुध्नियाय च ॥ ४ ॥

जघन्यो वार्धक्यसाक्षी । वृद्धावस्था हि लोके निन्द्यते । बुध्नं चात्र संसा-
रमूलमाविद्या तत्प्रकाशकत्वेन वर्तमानो बुध्न्यस्तस्मै नमः ॥ ४ ॥

नमः सोम्याय च प्रतिसर्षाय च ॥ ५ ॥

संसारित्वादेवोभाभ्यां पापपुण्याम्हां वर्तत इति सोम्यः । प्रतिसर कङ्कण-
बन्धः । तमर्हतीति प्रतिसर्षः । बुद्धियुक्त्या सह कृतविवाह इव वर्तमान इत्यर्थः ।
तस्मै तस्मै च नमः ॥ ५ ॥

नमो याभ्याय च क्षेभ्याय च ॥ ६ ॥

पापफलभोगाय यमलोकमर्हतीति याम्यस्तस्मै नमः । स एव बहुजन्मार्जित-
पुण्यवशेन क्षेमो मोक्षस्तमर्हतीति क्षेम्यस्तस्मै नमः ॥ ६ ॥

नम उर्वर्याय च खल्याय च ॥ ७ ॥

उर्वरा सर्वसस्याढ्यभुतुल्या मायैव तत्प्रकाशक उर्वर्यस्तस्मै नमः । खलानां
कामक्रोधादीनां प्रकाशकः खल्यस्तस्मै नमः ॥ ७ ॥

नमः श्लोक्याय चावसान्याय च ॥ ८ ॥

श्लोका वेदमन्त्रास्तत्प्रतिपाद्यः श्लोक्यस्तस्मै नमः । अवसानमुपनिषदस्तत्प्रति-
पाद्योऽवसान्यस्तस्मै च । कर्मकाण्डे कर्मकर्तृप्रमातृरूपेणोपनिषद्भिस्त्वसङ्गासंसारि-
त्वादिरूपेण प्रतिपाद्य इति यजुर्द्वयार्थः ॥ ८ ॥

नमो वन्याय च कक्ष्याय च ॥ ९ ॥

वनं चात्र दुस्तरत्वात्संसारस्तमर्हतीति वन्यः । कक्षः पापपुण्यसमूहस्तमर्हतीति
कक्ष्यस्तस्मै च नमः ॥ ९ ॥

नमः श्रवाय च पतिश्रवाय च ॥ १० ॥

श्रवः श्रूयत इति परादित्रयं तत्प्रकाशकः । विशेषेण श्रूयत इति प्रतिश्रवः ।
वैखर्यादिसाक्षी तस्मै तस्मै च नमः ॥ १० ॥

नम आशुनेणाय चाऽऽशुरंथाय च ॥ ११ ॥

आशुगापिनी इन्द्रियरूपा सेमा यस्य स आशुसेनस्तस्मै नमः । आशुगार्ह-
देहरूपो रथो यस्य स आशुरथस्तस्मै च नमः ॥ ११ ॥

नमः शूराय चावभिन्दते च ॥ १२ ॥

अत एव शूरो धैरवान् यतो बुद्धयैव विवेकवत्या कामाद्यरीनवभिन्वतीत्य-
भिन्दन् । तस्मै च नमः ॥ १२ ॥

नमो वरुणिणे च वरूथिने च ॥ १३ ॥

वर्म चात्राऽऽवरणं तद्वत् । वरूथं हृदयनीडरथलं तद्वासिने च नमः ॥ १३ ॥

नमो बिल्मिने च कवचिने च ॥ १४ ॥

बिल्वानि हृदयस्थशतैकनाड्यस्तच्चकासकाय । कवचं पञ्चमहाभूताव-
वदान्कवची । कञ्चकीत्यर्थः । तस्मै नमः । भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः ॥

समः पर इति भूतकञ्चुकानिर्बुक्तो जीवः पराशीवायाः पतिसमो भवतीति तदर्थः
॥ १४ ॥

नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च ॥ १५ ॥

वेदेष्टसल्लच्छतो यस्तस्मै । श्रुता पसिद्धा सेना यस्य तस्मै च नमः ॥ १५ ॥

इति रुद्रभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

एवं षष्ठोऽनुवाके प्रमातृसाक्ष्यभयस्वरूपेण प्रत्यगात्मस्वरूपोऽभिहितो रुद्रः ।
अथेदानीं सप्तमेऽनुवाके जगत्सृष्ट्यादिकर्तृर्माषोपावेरीश्वरस्य स्वरूपमुपदिश्यते । नमो
दुन्दुभ्याय चेत्यादिषोडशभिर्यजुभिः—

नमो दुन्दुभ्याय चाऽऽहनन्याय च ॥ १ ॥

इदं तावदवधेयम् । यथाऽऽवरणविक्षेपशक्तिद्वयवती प्रमातृबुद्धिनिष्ठा निष्ठा
प्रमातारमावृत्य तस्मिन्मिनवावेव जीवेश्वरौ निर्माति ॥ तौ च यावत्संसारं नियम्य-
नियन्तृभावेन स्थितावपि प्रमातुः स्वस्वरूपावबोधसमकालमुभावापि विनश्यतः । मृ-
षात्वात् । अविष्टानभूतं प्रमातृचैतन्यं तु न विनश्यति । सत्यत्वात्तथेहापि शक्तिद्व-
यवती प्रत्यगात्मनिष्ठा माया तमावृत्य तस्मिन्मिनवौ जीवेश्वरौ नियम्यनियन्तृभा-
वेन स्थितौ निर्माय जगदपि तयोर्व्यवहारसंपत्तये समुत्पादयति । जीवस्वरूपभूतप्र-
त्यगात्मावबोधसमसमयमुभावापि जगता समं विलीनौ भवतः । सोऽयं मृषाभूतोऽपी-
श्वरो यावत्संसारं जीवेन सहेवाऽऽस्त इति । नन्वेकेन स्वरूपस्थितजीवेन सहेव
विलीन ईश्वरः कथमन्यान्बद्धजीवानियच्छत इति चेन्न । मुक्तजीवदृष्ट्या तल-
येऽपतिरदृष्ट्या तत्सत्त्वाङ्गीकारात् । यथा वैकस्य प्रबुद्धजीवस्य दृशा स्वाप्नेश्वरे
विलीनेऽपि न हीतरसुप्तदृष्ट्या तल्लयः संगच्छते तद्वत् । इत्येवमाभिप्रेत्य वाचस्पति-
मिश्राः प्रतिजीवं प्रपञ्चभेदस्तद्भेदादेवेश्वरभेदोऽपि प्रत्यभिज्ञा चातिसादृश्यादित्या-
दि । वस्तुतस्तु यथा भूमेरभ्यन्तरे विद्यमानमपि निष्पादिकं न हि निष्पञ्जनम-
न्तरा चक्षुष्मानपि कश्चन द्रष्टुमीष्टे तथेहापि जगति पाक्सिद्धमपीश्वरं विद्याञ्जन-
मन्तरेण न कश्चिद्द्रष्टुमर्हति । तस्माज्जगत्सीश्वरदर्शने विद्येवाञ्जनायते । यथा
प्राविभासिकतरीश्वरदर्शने निद्रेति । तदेवमुक्तलक्षणेश्वरस्य प्रमावातिशयमाह ।

पिहितकर्णेन श्रुयमाणो ध्वनिर्दशविधः । तथा च हंसोपनिषदि “ चिणीति प्रथमः । चिणिचिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्चतुर्थः । पञ्च-
गस्तन्त्रीनाद षष्ठस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादोऽष्टमो मृदङ्गनादो नवमो भेरीनादो
दशमो मंघनादः ” इति । तत्र मनइन्द्रियाणामैकाग्र्ये यथाक्रमं शब्दाञ्जशृण्वानो
योगी यदा नवमं भेरीनादं शृणोति तदा शुद्धसत्त्वोपाधिर्वासुदेवस्तेन साक्षात्क्रियत
इति । ततश्च द्रुमुभिशब्दोऽभिव्यञ्जको यस्य स द्रुमुभ्यस्तस्मै नमः । आहन्यतेऽ-
नेनेत्याहन इच्छादण्डः कुण्डलिन्युत्थापनद्वारा येनासौ शब्दोऽभिव्यज्यते तद्रूपाय
नमः ॥ १ ॥

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च ॥ २ ॥

धृष्णुर्भीरुभ्यो वातादिभ्योऽधिकयैर्यशाली । तथा च श्रुतिः “ भीषाऽस्मा-
द्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ” इत्यादि । यतो वातादयो बिभ्यन्ति स धृष्णुरिति
किं वक्तव्यं तस्मै नमः । प्रमृशो विमर्शनशीलः । यस्य ज्ञानमयं तपः, इति
श्रुतेः । तस्मै च नमः ॥ २ ॥

नमो दूताय च प्रहिताय च ॥ ३ ॥

दूतोऽग्निरूपः “ रुद्रो वा एष यदग्निरिति श्रुतेः । अग्निश्च देवदूतः पसिद्धः
“ आग्निं दत्तं वृणीमहे ” इत्यादौ । प्रकर्षेण हितो मित्ररूपः “ द्वा सुपर्णा
सयुजा सखायौ ” इत्यादौ तस्य सखित्वश्रवणात् । तस्मै तस्मै च नमः ॥ ३ ॥

नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च ॥ ४ ॥

निषङ्गी खड्गयुक्तः । इषुधिबाणाधारस्तद्वांस्तस्मै नमः ॥ ४ ॥

नमस्तीक्ष्णेषवे चाऽऽयुधिने च ॥ ५ ॥

तीक्ष्णा इषवो बाणा यस्य तीक्ष्णेषुः । आसप्तन्ताद्युध्यतीत्यायुधितस्तस्मै नमः
॥ ५ ॥

नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ६ ॥

शोभनं धन्व यस्य स सुधन्वेत्येवं चतुर्विधस्वरूपाग परमेश्वराय नमः । सगु-
णमूर्तमंगवत् एतत्साहित्यं तु जीवरक्षणायैति बोध्यम् । तथा च श्रुतिः-“ अहि-
रिव भोगैः पर्येति बाहुं ज्यायाहेति परिबाधमानः । हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि

विद्वान्पुमान्पुमांसं परिपातु विश्वतः ॥ इति । वस्तुतः क्रोध एव निषङ्गः कर्माशय इषुधिः । इषवः कामादयः शोभनमायुधं ज्ञानवैराग्यादि शोभनं धनुर्बुद्धिः । अमी-
भिर्यथातथं ज्ञानिनः पात्यज्ञानिनश्च संसारयतीति फलितोऽर्थः । तादृशाय सर्वा-
न्तर्यामिणे नमः ॥ ६ ॥

नमः स्मृत्याय च पथ्याय च ॥

स्मृतिः स्वल्पो देवलोकमार्गः । दक्षिणेन पथाऽर्थमणः पितृलोकं व्रजन्ति ॥
इति श्रुतिप्रसिद्धस्तत्प्रवर्तकाय नमः । पन्था ब्रह्मलोकमहामार्गः “ तेष्विरेभि संभ-
वन्ति ॥ ” इति श्रुतिप्रसिद्धस्तत्प्रवर्तकः पथ्यस्तस्मै नमः ॥ ७ ॥

नमः काट्याय च नीप्याय च ॥ ८ ॥

कुतिसतं नरकादिकमटन्त्यनेनेति काटो निषिद्धाचरणमार्गस्तत्प्रवर्तकः काट्य-
स्तस्मै नमः । नीपोपलक्षितं मणिद्वीपनिलयनं तत्रस्थदेवतोपासनरूपमार्गप्रवर्तको
नीप्यः । यं वाममार्गमाहुः । यश्च “ स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥ ”
इति भगवत्पूज्यपादैरभिहितस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥

नमः सूद्याय च सरस्याय च ॥ ९ ॥

सूदा इव यत्र कर्मकारा भवन्ति तादृशः संसारमार्गस्तत्प्रवर्तकाय नमः ।
सरसो हि सर्वेभ्यो मार्गेभ्यो यो मोक्षमार्गस्तत्प्रवर्तकाय नमः । “ रसो वै सः ।
रसः स्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ॥ ” इति श्रुतौ चिदात्मनो रसरूपत्वात्तेन सह
जीवः सर्वान्कामानवाप्नुत इति सरसत्वम् । तथा चाऽऽम्नायते—“ सोऽश्नुते सर्वा-
न्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ ” इति ॥ ९ ॥

नमो नाद्याय च वैशन्ताय च ॥ १० ॥

इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नद्यो वर्णसाम्यादगङ्गायमुनासरस्वतीतुल्यास्तत्रा-
भिव्यक्तो नाद्यः । वैशन्तोऽल्पसरस्तद्वदार्द्रप्रकाशस्तत्र प्रकाशमानाय नमः ॥ १० ॥

नमः कूप्याय चावट्याय च ॥ ११ ॥

कूपोऽत्र कण्ठकूपः । यदाह पतञ्जलिः—“ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ”
इति । तत्रत्यामृतरूपाय नमः । अवट आधारचक्रं तत्रत्यकुण्डलीरूपेण विराजमा-
नाय नमः ॥ ११ ॥

नमो वप्य्याय चावप्याय च ॥ १२ ॥

चन्द्रकुण्डलिनीरूपेण मृतं वर्षतीति वप्यः । अग्निकुण्डलिनीरूपेण सूर्यकुण्ड-
लिनीरूपेण वा तच्छोषकगवादवप्यस्तदुभयरूपाय नमः ॥ १२ ॥

नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च ॥ १३ ॥

मेघेषु मेघसदृशनाडीषु भवो मेघ्यः । विद्युज्जठराग्नितद्रूपाय नमः । “ अहं
वैश्वानरो भूत्वा ” इति स्मृतः ॥ १३ ॥

नमो इंध्रियाय चाऽऽतप्याय च ॥ १४ ॥

इंधं निर्मलत्वेन प्रकाशमानं शुद्धसत्त्वं तत्प्रकाशकाय कारणोपाधये नमः ।
रजःप्रधानाऽऽवरणशक्तिरातपस्तेन सह वर्तमानाय हिरण्यगर्भरूपाय नमः ॥ १४ ॥

नमो वात्याय च रेष्मियाय च ॥ १५ ॥

वातावरणोपलक्षितो विश्वसमूहस्तपो वात्यो विराट् तस्मै नमः । शर्करापाषा-
णादिवद्दुस्तरकामकर्मादिगह्वगविद्याशरीरं रेष्मियस्तद्रूपः । अविद्यारूपेण जीवा-
न्तसारयतीत्यर्थः । तस्मै नमः ॥ १५ ॥

नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च ॥ १६ ॥

वास्तूनि शब्दादीनि तद्रूपाय नमः वास्तुः शरीरगृहं तत्पातीति वास्तुवस्तस्मै च
नमः ॥ १६ ॥

इति रुद्रभाष्ये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

सप्तमोऽनुवाके मायाविद्योपाधिकावीश्वरजीवावभिधायेदानीं तदुभयाश्रयमनुपा-
धिकं पूर्णचेतन्यमुपदेष्टुमष्टमोऽनुवाक आरभ्यते-नमः सोमाय चेत्यादिना । तत्रेयं
भवति चिन्ता । तद्विजं तु शुद्धचिन्मात्राश्रिता माया तद्वान्तरशक्तयोऽविद्यास्तदु-
भयोपाधिकौ जीवेश्वराविति वेदान्तिनां प्रक्रिया । वत्र यदि मायाविद्याप्रतिबिम्बा-
वीश्वरजीवौ तदोपाध्योः प्रतिबिम्बपक्षपातिवयाऽनुपाधोर्बिम्बभूताचिदात्मनः कालत्र-
येऽपि नास्ति संसारः । अस्मिन् चेत्यतिबिम्बयोस्तयोर्मुषात्वेन स्वरूपहानिरेव मोक्ष
इत्याशयेन । किंच मायोपाधेश्चकर्मजात्वेन नित्यत्वात्तत्संक्रान्तेश्वरस्य तादृश्यमेव
स्यात् । तवश्च “ क्लेशकर्मविपाकैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ” इति योगमतं

तदवस्थमेव भवेत् । तच्च प्रतिषिध्यते । यदि पुनरुपाध्यवच्छिन्नौ तौ घटाकाशमहा-
काशाविव तदाऽपि व्योम्न इव परिपूर्णस्य चिदात्मनो ननुपाधिना साकं तत्र तत्र
गमनं संभवत्यचलत्वादखण्डत्वाच्च । यदि च शयानस्यैव स्वप्नेऽचलस्याप्यु-
पाधिप्रतिबिम्बितत्वेन तत्र तत्र गमनमिष्यते तदाऽपि देशान्तरगतस्य शयनस्थान-
एव मायाशयनोद्बुद्धस्य स्थानमन्यदेव देशान्तर उपलभ्येत । अपि च तदा
बिम्बचैतन्यस्यैव संसारस्तन्मोक्षश्चेति प्रकाशादिवच्च वैशेष्यादिति शारीरकसूत्र-
विरोध इति चेन्न । शुद्धचैतन्यस्यैव तत्तदुपाध्यवच्छेदेनोभयरूपत्वाङ्गीकारात् ।
नचोक्तदोषः । यथा वा सवितरि यातायातकारिणिव दृश्यमानेऽपि न स भ्रमति
किंतु पृथिवीग्रह एव प्रत्यहं गोलाकारेण भ्रमन्सन्वत्सरान्ते सवितारमेव प्रदक्षिणी
कुरुते न सविता । न च पुराणमतविरोधः । “अच्छन्नो वा एष मातरुदेत्यपः
सार्धं प्रविशति ” इतिवल्लोकदृष्ट्या मेरुं प्रदक्षिणी कुरुतेऽर्क इति तत्र वर्णनात् ।
एवमेव सर्वत्र विरोधोऽपनेयः । प्रकृते तु तथाऽचलोऽप्यखण्डोऽपि चिदात्मा प्राति-
प्रातिभासिकशरीराध्यासेन जाग्रज्जीवः स्वप्ने दूरदेशमिव व्यावहारिकलिङ्गशरी-
राध्यासेन स्वर्गनरकादियातायातक्षमो भवति न स्वतः । तद्यथा नौकागमने तत्र
त्यानां तीरस्थतरुगमनवत्पृथिवीस्थानामादित्यगमनवत् शयानस्य स्वगमनवदात्मैव
गच्छतीति दृश्यते । इदं च प्रागभिहितं ममोपरि चन्द्रो मया साकं पलायत
इत्यादिना । एवं च स्वाप्नभ्रमापनये शयनदेशस्थ इव जाग्रत्पञ्चापवादे स्वरू-
पस्थित एव जीवः । शारीरकसूत्रं तु संनिकर्षादीश्वरस्यापि संसारित्वमसङ्गः
वारयति । ततश्च घटाकाशमहाकाशव्यवहारस्वेदकस्यैवोपाधिद्वयेन परमात्मप्रत्य-
गात्मव्यवहारे सिद्धेऽप्यस्ति विशेषः । ईश्वरो ह्यनादिकालमारभ्य सर्वज्ञत्वान्नित्य-
मुक्त एव । जीवस्त्वविद्याश्लिष्टः किञ्चिज्ज्ञ इति संसारी परमेश्वरमादाद्विमुच्यत इति ।
तदेतदुच्यते—

नम सोमाय च रुद्राय च ॥ १ ॥

उमा चात्र विद्या शक्तिः । तथा च केनोपनिषदि श्रूयते—“तस्मिन्नेवाऽऽ-
काशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभनामुमां हैमवतीं तां होवाच किमेतच्छक्तिमिति ” तथा-
सहितः सोमस्तस्मै नमः । स एव च रुजं संसारं द्रावयतीति रुद्रत्वस्मै च
नमः ॥ १ ॥

नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ २ ॥

अयमर्थः । अविशेषेऽपि गुणानां मोहकत्वावरकत्वादिना रजस एव प्राथ-
म्यम् । माया हि स्वगतरजसा प्रथममावृणोति ततस्तमसा विक्षेपयतीति प्रसिद्धम्
आवरणमन्तरा विक्षेपायोगात् । अत एव परोरजसे सावदोमित्यादौ रजसः पर-
स्ताद्वतमानः परमात्मा परोरजसे कस्तद्यत्परोरजा इति । “ एष वाव स परो-
रजा इति होवाच ” इति श्रुत्यन्तराच्च । स च सावदो सम्यग्वक्तुं शक्यो
वक्तुमशक्यश्च य ओंकारस्तद्रूपः । “ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य इति ” ‘ यतो
वाचो निवर्तन्ते ’ इत्यादिश्रुतेश्च । सगुणत्वेन वेद्यो निर्गुणत्वेन चाविषय इति
फलितोऽर्थः । ततश्च तादृशराजस्या शक्त्या सह वर्तमानस्ताम्रः । तस्मै नमः ।
सैव शक्तिमार्कण्डेयपुराणे महालक्ष्मीरित्यापादिता “ सर्वस्याऽऽद्या महालक्ष्मीः ”
इति । तत्प्राथम्यं चोक्तम् । स एव ताम्रस्या शक्त्यां विक्षेपापरनाम्न्या सह वर्त-
मानोऽरुणो भवति । ईषद्रक्तो भवतीत्यर्थः । महाकालीमिति यामुपादिशन्ति ।
सैयं शक्तिस्तत्रैवोक्ता । एतदुभयाभिमानौ च भगवान् क्रमादुपासनायां ब्रह्मेति
विष्णुरिति चोच्यते । ननु विष्णोः कथं ताम्रसत्त्वमिति चेत् । स्थितेरपि तामसा-
न्तर्गतत्वेन तत्कर्तृत्वादिति ब्रूमः । अत एव “ एषा सा वैष्णवी शक्तिर्महाकाली
दुरत्यया ” इत्युपसंहृतम् । इदमुक्तं भवति—पावद्रजस्तमउद्रेकस्तावज्जन्ममर-
णात्मकमवाहो दुर्निवार्य एष । यदा तु सत्त्वगुणोद्रेकस्तदा सर्वपञ्चोपसंहारः
प्रसिद्धो ज्ञानिनाम् । तेन रज एव स्रष्टु तम एव स्थितिरुत् सत्त्वमेवोपसंहारक-
मित्यवधेयम् । अन्यस्तर्हि भाकमिति ॥ २ ॥

नमः शङ्गाय च पशुपतये च ॥ ३ ॥

शं मोक्षसुखं गमयति प्रापयतीति शङ्गः । शुद्धसत्त्वप्रधानोमाख्याविद्याशक्त्या
मोक्षदाता यस्तस्मै नमः । पशवः खल्विमे जीवास्तेषां पतिर्यस्तस्मै नमः ॥ ३ ॥

नम उग्राय च भीमाय च ॥ ४ ॥

कामादिरिपुषातित्वादुग्रः । दर्शनमात्रेण तेषां भयहेतुर्भीमः । तस्मै च नमः
॥ ४ ॥

नमो अग्रेवधाय च दूरेवधाय च ॥ ५ ॥

अग्रे वर्तिनमविद्यादोषं हन्तीत्यग्रेवधः । दूरे वर्तिनं तत्कार्यसागादिकं हन्तीति दूरेवधः । तस्मै च नमः ॥ ५ ॥

नमो हन्त्रे च हनीयसे च ॥ ६ ॥

केषांचिद्दुर्धराणां स्वतो हन्ता । कांश्चिज्जीवैः कृत्वा हनीयान् । तस्मै च नमः । इमं च मुंकेः पूर्वाकुशा रिपवस्तन्त्रेषु विवृताः । तन्निरासेन मुक्तिदावेति सकलनामार्थः ॥ ६ ॥

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः ॥ ७ ॥

अयमर्थः—“ ऊर्ध्वमूलोऽवाकृशास्व एषोऽश्वत्थः सनातनः ” इति श्रुतिप्रतिपाद्यः संसारवृक्षः प्रत्येकस्मिज्जीवे तिष्ठतीत्यतोऽस्य वृक्षेभ्य इति बहुत्वव्यपदेशः । अत एव तं गणतनूजो महाशिलायां त्रैलोक्यराज्यं मनसा प्रकल्प्य चिरमनुभवति स्मेति स्मर्यते त्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे । योगवासिष्ठेऽपि—“ त्रसरेणूदरेऽपीन्द्रः पश्यति स्म जगत्त्रयम् ” इत्याद्युक्तम् । ते वृक्षाश्च हरिकेशा इति निरुच्यन्ते : हरयो वेदास्त एव केशाः—पर्णानि येषां ते । छन्दांसि यस्य पर्णानीति स्मृते ॥ ७ ॥

नमस्ताराय ॥ ८ ॥

तारयति संसारादिति तारः प्रणवस्तद्रूपाय ॥ ८ ॥

नमः शंभवे च मयोभवे च ॥ ९ ॥

शं स्वानन्दं भुनक्तीति शंभुः । मयो वैषयिकं सुखं भुनक्तीति मयोभूः । तस्मै तस्मै च नमः ॥ ९ ॥

अत्र शंभुशब्देनोपद्रष्टा साक्षी जीवः । मयोभूशब्देन द्रष्टा भोक्ता च जीव उच्यते । एवं व्यष्टिगतौ निरुच्य समष्टिगतौ तावाह—

नमः शंकराय च मयस्कराय च ॥ १० ॥

शं परमानन्दं करोति जीवानामिति शंकर ईशसाक्षी । मयः करोतीति मयस्करो विषयसुखदाता ईश्वरः । तस्मै तस्मै च नमः ॥ १० ॥

नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ११ ॥

शिवाय साक्षित्वानाक्रान्तशुद्धप्रत्यक्चैतन्यस्वरूपाय । तथा शिवतरायेशसाक्षित्वानाक्रान्तशुद्धपरमात्मस्वरूपाय ॥ ११ ॥

नमस्तीर्थाय च कूल्याय च ॥ १२ ॥

तीर्थाय तीर्थं गुरुस्तद्रूपाय । एवं “ उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महे-
श्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ” । इति समष्टिव्यष्टिगतं ष-
ड्विधं चैतन्यं निरुच्य तस्यैव माहात्म्यातिशयमाविष्करोति । संसारसमुद्रस्य कूले
तीरे तिष्ठतीति कूल्याय ॥ १२ ॥

नमः पार्याय चावावीय च ॥ १३ ॥

तस्यैव पारे तिष्ठतीति पार्यः । अवरस्मिन्भागे तिष्ठतीत्यवायः । अत्र स्वय-
मसंसारिस्वरूपेण तिष्ठन्परतीरस्थान्मुक्तानपरतीरस्थान्मुमुक्षूंश्च पातीति पदत्रयस्यार्थः
॥ १३ ॥

न केवलं मुक्तमुमुक्षुमात्रजाता किंतु भवजलधिषम्रान्संसारिणश्च—

नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च ॥ १४ ॥

प्रकर्षेण तारयतीति प्रतरणः । किञ्चिद्विचारेण उद्धरेच्छून उत्तारयति तस्मै
नमः ॥ १४ ॥

यद्यपि निरुपाधिकदयापरवशतया जीवाननुगृह्णाति भगवांस्तथाऽपि जीवैर्भ-
वसमुद्रनाविकाय किञ्चिन्मूल्यं देयमेवेत्याशयेनाऽऽह—

नम आतार्याय चाऽऽलाद्याय च ॥ १५ ॥

आतरस्तरण्यमर्हतीत्यातयः । आतय एव आतार्यः । तस्मै नमः । स
चाऽऽतरः “ पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ” इत्युपलक्षणः ।
तथा—अरं शीघ्रमदन्तीत्यलादाः । रलयोः सावर्ण्यात् । अलादेर्षु मुख्य आलाद्यः ।
तस्मै नमः । भक्त्युपहतं वस्तु शीघ्रं पेम्णोपहारी करोति परमेश्वरः । “ तदहं
भक्त्युपहतमश्रामि प्रयतात्मनः ” इति तत्रैवोक्तेः ॥ १५ ॥

एवं शिव एव पञ्चदेवतात्मा भक्ताननुगृह्णातीत्याह—

नमः शष्पाय च फेन्याय च ॥ १६ ॥

शष्पाणि दूर्वादितृणान्यर्हतीति शष्पस्यै विनायकस्वरूपाय । फेनोपलक्षितं
शीघ्रमर्हतीति फेन्यः सुगन्धस्तद्रूपाय । आदित्यो हि सफेनक्षीरेण मसीदतीति मसि-
द्धम् ॥ १६ ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च ॥ १७ ॥

रथसप्तम्यां सिकतामयमूर्तावाविर्भवतीति सिकत्यो भद्रकालीरूपस्तस्मै नमः ।
“ आनर्चुर्नृप सैकतीम् ” इति भागवतादौ तथा प्रतिद्धेः । यथा शिवस्तथा
देवी यथा देवी तथा शिवः । नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव । इति शि-
वस्यापि देवीरूपत्वं प्रसिद्धम् । प्रवाहे जलपूरे पूज्यः प्रवाहो विष्णुस्तद्रूपाय ।
तस्य हि नारायणस्याऽऽपोमयत्वं प्रसिद्धम् । “ आपो नारा इति प्रोक्ताः ” इति
स्मृत्यादौ । तस्मै नमः ॥ १७ ॥

इति रुद्रभाष्येऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

अष्टमेऽनुवाके निरुपाधिपूर्णचैतन्यमुपदिश्य तस्यैव सर्वगतत्वं चोपदेष्टुं नवमोऽ-
नुवाक आरभ्यते । तत्राऽऽदौ स यश्चायं पुरुषे । यश्चासावादित्ये । स एकः ।
स य एवंवित् ” इत्यादिश्रुत्या “ तत्सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत् ” इति श्रुत्यन्तरेण
च परमात्मैव तत्तदुपाधिवशाज्जीवेश्वरादिसंज्ञां लभते । यश्च सर्वज्ञत्वादिधर्मभेद-
इवाऽऽभाति स चोपाधिनिबन्धन इत्युपाधरेव धर्मस्तत्पक्षपातदशायां चिदात्मन-
एव जीव इतीश्वर इति च व्यवहारः । इदं च संप्रज्ञातसमाधानुशसीनबोधरूप-
तयाऽवस्थाने स्पष्टमनुभूयते । कारणोपाधिः कार्योपाधिं नियच्छतीति न चिन्मा-
त्रवस्तुनो नियन्तृत्वं नियम्यत्वं वा । अत एव कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपा-
धिरीश्वरः । “ कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ” इति पञ्चदश्यां
कार्यकारणोपाध्योरेव जीवेश्वरव्यवहारः कृतः । ननु यथा नियम्यत्वं स्वोपाधे-
रन्तःकरणस्य जीवेनानुभूयते तथा कारणोपाध्यवस्थाने नियन्तृत्वं कुतो नानु-
भूयत इति चेदुच्यते । यथा वा चक्षुष्मताऽपि स्वमुखस्थं तिलकादि चिह्नं दर्प-
णाद्युपाधावावेव निरीक्ष्यते न तमन्तरा मुख एव । एवं कारणोपाधिमान्बिम्बस्था-
नीयः साक्षी स्वनियन्तृत्वं न स्वस्मिन्नुपलभते किंतु दर्पणस्थानीये लिङ्गशरीर-
एव । बिम्बोपाधौ च भवितव्यानुसारेण संस्कारा उत्पद्यन्ते । त एव स्थूलीभूता
वासनारूपेणान्तःकरणोपाधावनुभूयन्ते । सूक्ष्मं सूत्रवेत्रमहिम्ना स्थूलतया प्रती-
यत इति प्रसिद्धम् । ननु तर्हि नास्ति सार्वज्ञानुभव इति चेत्—ओमिति वदामः ।
अत एव “ संस्काराणां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं न हीयते ” इत्यभियुक्तचरणाः ।

ननु कथं तर्हि “ यः सर्वज्ञः स सर्ववित् ” इति श्रुतिप्रलाप इति चेदानुमानिक इति ब्रूमः । तथा हि ईश्वरो हि सर्वसाक्षी सर्वसाधारणस्तदुपाधेरपि सर्वसत्धारणत्वेऽपि तत्तदन्तःकरणावच्छेदेन संस्काराणां भेदसद्भावाद्भूवितव्यानुसारेण तत्तज्जीवनिनियामकत्वं घटते जीवोपाधीनां च प्रतिदेहं भिन्नानां नियम्यत्वम् । अत एव “ यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्सोऽप्यङ्ग वेद यदि वा न वेद ” यदि वा न वेद ” इति श्रुतिरपि सार्वज्ञ्यमानुमानिकमेवाऽऽह । नचैवं सांख्यमतप्रवेश इति वाच्यम् । चिद्विशिष्टया एव प्रकृतेः सार्वज्ञ्याभ्युपगमात् । ततश्च विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया शरीरान्तर्वर्तिसंस्कारप्रकाशकत्वेन वर्तमानोऽपि चिदात्मा स्वतो ज्ञातृत्वाद्योगादन्तःकरणवैशिष्ट्येनैव तज्जानाति । अतोऽन्तःकरणस्य पवर्तकः स्वयमेवेति नान्यः कश्चिदपराध्यति । एवं चेश्वर एव स्वरूपविस्मृत्या जीवो भवतीति निर्विवादम् । स च कथं देहमाविश्य जीवतामुपैतीत्यत आह—

नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ॥ १ ॥

इरणं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र प्रकाशगान इरिण्यः । तस्मै नमः । प्रपथाः “ शतं चैका हृदयरय नाड्य ” इति श्रुत्युक्ता नाडीमार्गास्तेषु प्रचरति जीवरूपेणेति प्रपथ्यः । तस्मै नमः । ईश्वरो ह्यज्ञानावृतः प्रथमं ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्य पश्चात्प्रविशति हृदया नाडीः । तथा च श्रुतिः— “ स एतमेव सीमानं विदार्य हृदयमेवान्ववक्रामति ” इति ॥ १ ॥

नमः किंशिलाय च क्षयणाय च ॥ २ ॥

कुत्सितं शिलं किंशिलं नानावासनात्मकं रजस्तदन्वितः किंशिलः । तस्मै । ततश्च देहरूपो निवासस्तस्मिन्नेह ममेत्यभिमानेन निवसतीति क्षयणः । तस्मै नमः ॥ २ ॥

एवं देहाध्यासवतस्तस्यैव बाह्यस्त्रीपुत्राद्यनन्तवासनान्वितत्वमाह—

नमः कपर्दिने च पुलस्तये च । ३ ॥

केशादिवत्सूक्ष्मतमवासनासमूहः कपर्दस्तद्वते पुरोवर्तीनि नानाकर्माणि श्रौतस्मात्तल्लौकिकानि स्थापयति संघातयति संचिनोतीति यावत् । स पुलस्तिस्तस्मै । रलयोरभेदात् । नम दत्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानीं जीवभावापन्नस्य स्थाननिशेषानाह—

नमो गोष्ठ्याय च गृह्याय च ॥ ४ ॥

श्रुतयो गावस्तासां स्थानं गोष्ठं मनोमयकोशस्तत्र प्रकाशमानो गोष्ठ्यस्तस्मै नमः । मनोमयस्य हि “ तस्य यजुरेव शिरः । ऋग् दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा ” इत्यादौ वेद्यत्वं श्रूयते । गृहं गृहिणीस्थानं बुद्धिरेव गृहिणी विज्ञानमयकोशस्तत्र संचरमाणो गृह्यस्तस्मै नमः । विज्ञानमयाधिकृत एव जीवे विधिनिषेधाधिकारी कर्मकर्ता च भवति । “ विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च ” इति श्रुतेः । कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वादिति सूत्राच्च ॥ ४ ॥

नमस्त ष्याय च गेह्याय च ॥ ५ ॥

तत्पं शयनमहंकारः । शय्यामहं द्वादशमेक आहुरिति भागवतोक्तेः । तत्र स्थितस्तत्प्यस्तस्मै नमः । द्वे हि जीवस्य गेहे । एकं कर्माशयरूपं बुद्धिः । अपरं भाविचिन्तकं चित्तम् । तच्च देहाद्बहिरिव भवति । आरामस्थगेहवत् । तत्र रममाणाय त्रैकालिकज्ञानसंपन्नाय गेह्याय नमः । तथा च श्रुतिः—“ आराममस्य पश्यन्ति न तं मश्यति कश्चन ” इति । त्रैकालिकज्ञानसंपन्ना अपि तत्त्वाविदो न भवन्तीति श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

एवं देहाभिमानवत आश्रमनिष्ठामनुवदति-

नमः क्वाट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥ ६ ॥

कटस्तृणादिनिर्भितासनं तत्र तिष्ठतीति क्वाट्यः संन्यासधर्मी तस्मै नमः - गह्वरे गुहायां तिष्ठतीति गह्वरेष्ठः । वानप्रस्थधर्मी तस्मै नमः । वानप्रस्था अग्नि रक्षणार्थं गुहादीनाश्रयन्त इति प्रसिद्धम् । अग्न्यर्थमेव शरणमुत्तमं वाऽद्रिकंदरमिति भागवतोक्तेः ॥ ६ ॥

नमो हृदयाय च निवेण्याय च ॥ ७ ॥

हृदयदेगाधे संसारे तिष्ठतीति हृदयस्तस्मै गृहाश्रमिणे नमः । नितरां वेधो निवेधो नैष्ठिकब्रह्मचर्यं तत्पान्तीति निवेष्पास्तेषु मुख्यो निवेण्यस्तस्मै नमः । वकाराकारविश्लेषश्छान्दसः ॥ ७ ॥

एवं सर्वगतत्वमूपपाद्य सर्वदेवतात्वत्वमुपदिशति-

नमः पांसव्याय च रजस्याय च ॥ ८ ॥

पांसवः सदोषकर्माणि श्येनेनाभिचरन्त्यजेतेति श्रुतिप्रसिद्धान्याभिचारिकाणि तेषु प्रवृत्तः पांसव्यस्तस्मै नमः । एवं रजःप्रधानानि काम्पान्यग्निहोत्रादीनि तत्र प्रवृत्तो रजरयस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥

तत्र ये कर्मणा देवानपि यन्तीति श्रुत्यनुसारेण देवाः पापकर्मणा पुण्यकर्मणा च द्विविधा भवन्ति । तत्राऽऽद्यानाह—

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च ॥ ९ ॥

शुष्के शून्यश्मशानादौ क्रीडतीति शुष्क्यो भूतप्रेतपिशाचादिरूपस्तस्मै नमः । अत्र सर्वत्रोपाध्यविवक्षयोपहितचैतन्याय नम इति विवक्षितम् । हरिते सस्यवति रम्ये भूभागे तिष्ठतीति हरित्यो वनदेवतास्थलदेवतादिरूपस्तस्मै नमः ॥ ९ ॥

नमो लोण्याय चोलण्याय च ॥ १० ॥

लुप्यते तृणादिकं यस्मिंस्तल्लुप्यमुदकं तस्मिंस्तिष्ठतीति जलदेवतादिस्वरूपस्तस्मै नमः । उलपा लतास्तास्वप्सरसां रूपेण तिष्ठतीत्युलप्यस्तस्मै नमः तदुक्तं कात्यायनीतन्त्रे—“ मालत्यामुर्दशी देवी जातौ वसति मेनका । यूथिकायां पूर्वचिचिर्मल्लिकायां तिलोत्तमा ॥ १ ॥ सुकेशी मधुमालत्यां रम्भा जूत्यां प्रतिष्ठिता । बटुमल्यां मञ्जुवोषा मल्लोचा मगपल्लिकाम् ॥ २ ॥ वासन्त्यां वसते रम्भा कस्तूर्यां पुञ्जकस्थली ” इत्यादिना ॥ १० ॥

नम ऊर्वाय च सूर्याय च ॥ ११ ॥

ऊर्वा पृथ्वी तत्रत्यमनुष्यपशुपक्ष्यादिरूपाय नमः । सूर्यः शोभनलहयः । तत्रत्यमीनकूर्मादिजलचररूपाय नमः ॥ ११ ॥

नमः पर्ण्याय च पर्णज्ञ्याय च ॥ १२ ॥

पर्णेषु सूक्ष्मरूपेण वर्तमानः पर्णस्तस्मै नमः । पर्णशदः पर्णरसस्तद्रूपाय ॥ १२ ॥

नमोऽपगुरमाणाय चाभिघ्नते च ॥ १३ ॥

अपगुरतेऽसावमगुरमाणस्तस्मै व्याघ्रसिंहादिरूपाय नमः । स एवामितो हन्तीत्याभिघ्नस्तस्मै नमः ॥ १३ ॥

नम आक्खिदते च प्रक्खिदते च ॥ १४ ॥

आसमन्तात्खेदयतीत्याक्विस्वदन्तोगेदैन्यादिरूपस्तस्मै नमः । प्रकर्षेण खेदयतीति
प्रक्विस्वदन्मृत्युरूपस्तस्मै नमः ॥ १४ ॥

एवं “ दूरहेतिर्मृडयो मृत्युर्गन्धर्वस्तस्य प्रजा अप्सरसः ” इति श्रुत्यनुसारे-
णोपदिश्येदानीं सर्वान्तर्यामिणमुद्दिश्य प्रणमति—

नमो वः किरिकेभ्यो देवानां हृदयेभ्यः ॥ १५ ॥

अत्रेयं भवति चिन्ता । तद्वीजं त्वेकवचनं विहायाकस्माद्बहुवचनपयोगादन्त-
र्यामिनानात्वप्रतीतेः । “ एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, एकं सद्बहुधा विचारः,
द्यावाभूमौ जनयन्देव एकः ” इत्येवंजातीयका अतिस्तु तस्य नानात्वं वारयति ।
सत्यम् । तथाऽपि तत्तदन्तःकरणोपाध्यवच्छेदेन तस्यापि नानात्वाङ्गीकारात् ।
तदुक्तं वेदान्तपरिभाषायाञ्—“ अयं च साक्षी नाना । एकत्वे चैत्रावगते भैत्र-
स्याप्यनुसंधानप्रसङ्गः ” इति । इदमत्र तत्त्वम्—“ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्या-
भ्यन्तरो ह्यजः ” इत्यादिश्रुतिषु स्वमहिमप्रतिष्ठ एक एव परमात्मा मायावी
श्रूयते । “ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ” इत्येवमादिषु । सा च
माया शक्तिद्वयवती विशुद्धसत्त्वप्रधाना जगत्सर्जनादिसंस्कारवैशिष्ट्येन तस्य महे-
श्वरत्वं विदधाना तत्तदन्तःकरणोपाधिप्रतिबिम्बितजीवकृतशुभाशुभकर्मसंस्काराशय-
भेदेन बिम्बतामन्तर्यामितां च विधत्ते । तत्रान्तःकरणानां प्रतिदेहं भिन्नत्वात्तत्प्रति-
फलितजीवचैतन्यस्य बिम्बस्थानीयः साक्षी प्रत्यगात्मा तत्तत्प्रारब्धसंस्कारावच्छेदेन
भिन्न इव प्रतीयते । प्रेर्यप्रेरकत्वधर्मभेदात् । इदमेवाभिप्रेत्य “ यथैकस्मिन्घटाकांशे
रजोधूमादिभिर्वृते । न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ” इति गौडपा-
दाचार्यैरुक्तम् । ततश्च यदीयान्तःकरणं साद्विचारेण निरस्तावरणं सत्त्वोत्कर्षवशा-
द्विद्यारूपेण परिणमते तत्साक्ष्यपि सत्त्वपुरुषान्यतरूपातिकारिण्या विद्यावृत्त्या
साक्ष्याभिध्यात्वानुसंधानेन साक्षितामप्यपहाय शुद्धपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठते । तदुक्तं
गौडपादैः—“ अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते । अजमनिद्रमस्वप्नमात्मानं
बुध्यते तदा ” इति । ततश्चेश्वरत्वं द्विविधम् । अन्तःकरणमात्रप्रेरकत्वं पृथ्वीसु-
र्यादिसकलजगत्मेस्कृतत्वं चेति । तत्र प्रथमं स्वानुभवगोचरम् । अहमिदं प्रेरयामीति
साक्षिणः प्रतीतिविषयत्वात् । द्वितीयं तु परप्रतीतिगोचरम् । अन्यथा मुक्तावपि
जगद्भानप्रसङ्गः । तत्प्रागेवावोचाम “ अविज्ञातानुकूलं च माया द्वैतं कथं

भवेत् ” इत्यादिना । ततश्चान्तःकरणसाक्षिणामुपाध्यवच्छेदेन भेदप्रत्ययादुपपद्यत एव बहुवचनं नमो व इति । शुभाशुभवासनाः सुखदुःखानि वा किरन्ति वर्षन्ति ते किरिकास्तेभ्यो देवानां जीवानां हृदयेभ्योऽन्तर्यामिभ्यो नमः । “दैवी ह्येषा गुणभयी मम माया दुरत्यया ” इत्यादौ दैवी माया मम मायेति च भेदव्यपदेशात्तत्र देवशब्देन जीवग्रहणात् ॥ १५ ॥

नमो विक्षीणकेभ्यः ॥ १६ ॥

तानि च सुखदुःखानि विशेषतो भोक्तृत्वेन क्षपयन्तीति विक्षीणकाः । तेभ्यो नमः ॥ १६ ॥

नमो विचिन्वत्केभ्यः ॥ १७ ॥

विशेषेण धर्माधर्मौ विचिन्वन्तीति विचिन्वत्कास्तेभ्यो नमः ॥ १७ ॥

नम आनिर्हृतेभ्यः ॥ १८ ॥

आसमन्तान्निर्हरन्ति गोपायन्ति धर्माधर्मसंस्कारानित्यानिर्हृतास्तेभ्यो नमः ॥ १८ ॥

नम आमीवत्केभ्यः ॥ १९ ॥

अमीवमनात्माध्यासेनाऽऽत्मापह्नवरूपं पापं तद्वन्त आमीवत्कास्तेभ्यो नमः । एतादृशपापनिवृत्तिरेव श्रेय इति भावः । इदमत्रावधेयम् । सावेद्यस्यान्तःकरणल्य पञ्च भेदाः । मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमज्ञानमेव च । अन्तःकरणभेदाः स्युर्जीविस्तु तदुपाधिमान् । इति त्रिपुरारहस्योक्तेः । तत्र नानाविषयभोगजन्यसंस्कारसंग्राहकं मनस्तदुपाधिका विचिन्वत्काः । बुद्धिस्तु तत्तद्भेदेन प्रारब्धं क्षपयति तदुपाधिका विक्षीणकाः । अहंकारस्तु पुनः पुनर्दुःखानि वर्षति तदुपाधिका विकिरिकाः । चित्तं तु शरज्जलपङ्कमिव भुक्तसंस्कारान्गोपायतीति तदुपाधिका आनिर्हृताः । अज्ञानं ह्यनात्माध्यासेनाऽऽत्मापह्नवं करोतीति तदुपाधिका आमीवत्काः । इति विवेकः ॥ १९ ॥

इति रुद्रभाष्ये नवयोऽनुवाकैः ॥ ९ ॥

नवमेऽनुवाक औपाधिकमन्तर्यामिनातात्वं प्रतिपाद्येदानीमन्तर्यामितमष्टिरूपः सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः स्तूयते—

द्रा॒पे अ॒न्ध॒स॒स्प॒ते द॒रि॒द्र॒न्नी॒लो॒हि॒त ।

ए॒षां पु॒रु॒षा॒णामे॒षां प॒शु॒नां मा भे॒र्मा॒ऽरो॒ मो

ए॒षां किं॒ च॒ना॒ऽऽम॒म॒त् ॥ १ ॥

किमेष निरुपाधिकः स्तूपते सोपाधिको वा । नाऽऽद्यः । तस्य मनोवागविष-
यत्वेन स्तुतिगोचरत्वाभावात् । द्वितीयेऽपि किं जीव ईश्वरो वा । नाऽऽद्यः । स्तो-
तुरेव स्तव्यत्वमिति कर्मकर्तृविरोधापातात् । द्वितीयपक्षेऽपि किं त्रिनेत्रत्वशशिशेख-
रत्वादिविशिष्टव्यक्तिविशेषः कैलासवासी श्रीरुद्र आहोस्विद्विशुद्धसत्त्वप्रधानमायो-
पाधिराश्वरः । नाऽऽद्यः । यथाश्रुते तथा प्रतीयमानत्वेऽप्यध्यात्मपरतया पदयोजने
तथाऽप्युक्तेः । “ एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ” इत्येवमादिश्रुतिषु मायोपाधेरी-
श्वरस्यैव सर्वस्तव्यमूर्धाभिषिक्तत्वेन प्रतिपादनात् । तस्मात्स एवान्न स्तव्य इति
सिद्धम् । पदयोजनायां तु द्रापयति सांसारिकदुःखानि द्रावयतीति द्रापिस्तत्संबुद्धौ
हे द्रापे हे मुक्तिप्रद । हे अन्धसस्पते हे अन्नपते । अन्नस्यैव कामजनकत्वात् ।
हे कामप्रद इत्यर्थः । दरि दारिद्र्यं द्रावयतीति दरिद्रत् । हे णर्थदायिन् । कण्ठे
नीलोऽन्यत्र लोहित इति नीललोहितो धर्मप्रदः । धर्मस्य च काम्यत्वेन नित्यत्वेन
च द्विस्वरूपत्वात् । अनेन चतुर्विधपुरुषार्थप्रदत्वं रुद्रस्य सिद्धम् । ननु यथाश्रु-
तार्थं विहाय क्लिष्टकल्पनयाऽध्यात्मपरतया योजने किं प्रयोजनमिति चेदुच्यते ।
यथाश्रुते स्तेनानां स्तायूनामारण्यानां मुष्णतां प्रकृन्तानां कुलुञ्चानां पतये नम
इत्यादिपदार्थालोचने रुद्रस्य महत्त्वभङ्गः स्वारस्यभङ्गः उपासकानामानन्दभङ्गश्च
तदवस्थः स्यात् । तथाऽस्यद्भ्यो विध्यद्भ्य आसीनेभ्यः शयानेभ्यस्तिष्ठद्भ्यो
धावद्भ्य इत्यादीनां च स्वभावोक्त्यनुकारमात्रत्वेन तथा तक्षद्भ्यो रथकारेभ्यः
कुलालेभ्यः कर्मारिभ्यश्च वो नम इत्यादीनां तत्तज्जात्यनुवादेन स्तुतिर्वा निन्दा वेति
संदेहास्पदमेव स्यात् । न च सार्वभ्यवर्णनादशेष इति वाच्यम् । सत्यम् । सार्व-
भ्यवर्णने हि सामान्यवचनं भवति । यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या आन्तर इति
सामान्येनापि तत्सिद्धेः । यथा वृक्षरूप इत्युक्तौ पुष्पफलादिरूपत्वमर्थत आपन्नम् ।
इह तु वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्य इत्युक्त्वा पुनः पर्णेभ्य पर्णशद्यैभ्य इति विशिष्य
प्रतिपादनमनर्थकमिव प्रतीयते । स्तुतिश्च द्विविधा यथार्थाऽथथार्था चेति । तत्र
स्तोतव्यवस्तुनि विद्यमानानामेव गुणानां वर्णनं यथार्था । यथा यो रुद्रो अग्नौ

यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेश तस्मै रुद्राय नमो अस्तु
यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः” इत्यादि । अविद्यमानानां गुणानां वर्ण-
नमयथार्था । यथा कंचन राजानमुद्दिश्य—“ इन्द्रोपमोऽसि वरुणोऽसि हुताशनोऽ-
सीत्यादिरूपा । न तावान्निरवद्ये परमेश्वरे तत्करादिधर्माः स्तुतिगोचरतया युज्यन्ते ।
किंचोपाधिधर्मास्ते यद्युपहितेऽपि प्रयुज्यन्ते तर्ह्यध्यारोप एव स्यान्न स्तुतिः । इष्टा-
पत्तिरिति चेत् । हन्त तर्ह्यध्यारोपापवादप्रक्रिययाऽध्यात्मपरमेव शतरुद्रीयमित्याप-
द्यते । किंच सर्वोऽपि वेदोऽध्यात्मपर एवेति वदामः । भ्रान्ताः खलु भीमांसकास्त-
स्यै कर्मपरतां वर्णयन्ति । वस्तुतस्त्वध्यासपरमेव कर्मकाण्डम् । तथा हि—पञ्च वा
एतेऽग्नयो यच्चितय इत्यनुसारेण चित्याग्निषु विधीयमानाः पञ्चैव तशुयागाः “अ-
जमेधोऽश्वमेधो रासभमेधो गोमेधः पुरुषमेधः ” इति । अत्र लोभकामक्रोधमोह-
मदा यथाक्रमं पञ्चवः । तत्राजो हि स्वयं कण्टकादिभिरुदरनिर्वाहं कुर्वन् दीक्षितः ।
मुपकरोति । एवं वित्तसंचयी लोभी स्वयं दैन्येन वर्तयन्मरणोत्तरमन्यस्मै कस्मैचि-
दत्त इत्यजसाम्याल्लोभस्याजत्वम् । तज्जये तु त्रिकालज्ञानमुपतिष्ठते । एवं क्रोधी—
अन्धं तमः प्रविष्ट इवाविवेकी मातरं पितरं वा हन्यादिति रासभतुल्यः । तज्जये
त्वायुर्विद्योपतिष्ठते । कामी—अश्वतुल्यः । अश्वस्यैव नरत्वप्रसिद्धेः । तज्जये तु
ब्रह्मविद्योपतिष्ठते । ततश्च ब्रह्महत्या निवर्तते । तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यज्ञते
य उ चैनमेवं मेदेति । कामो हि प्राधान्येन ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकः । “ आवृतं
ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ” इति गीतोक्तेः । तथा “ एवं बुद्धेः परं
बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना । जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ” इति
तत्रैवोपसंहाराच्च । एवं “ इडे रन्तेदिते सरस्वति प्रिये प्रेयासि महि विश्रुव्येतानि
ते अधिनये नामानि ” इति श्रुतौ गौर्वाग्नृपिणी परोक्षवादेन मुग्धान्मोहयतीति
गौर्मोहरूपा । तन्मेधे नग्ना वधूरिव सर्वाऽपि विद्या, अनावृतैव बुद्धौ प्रकाशते ।
“ जायेव पत्य उशनी सुवासाः ” इति श्रुत्यन्तरात् । एवं मदोऽहंकारः
स एव पुरुषोपाधित्वात्पुरुषस्तन्मेधे स्वयं प्रत्यगात्मस्वरूपेणाऽऽविर्भवति । “ अस्य
णीवत्वमारोपात्साक्षिण्यव्यवभासते । आवृत्तौ तु विनष्टायां भेदे भाते प्रयाति
तत् ” इत्याचार्योक्तेः । एवमध्यात्मरीत्या वास्तवार्थं परित्यज्य यथाश्रुतमनुति-
ष्ठतां नरक एव । अस्वेततत्पुत्रतमनुसरामः । हे भगवन् एषां पुरुषाणां जीवाना-
मेषां पशूनां तत्पवर्तकानां मनआदीन्द्रियाणां मा भेः भयं मा कुरु । मा अरः ।

मा हिंसीः । एषां मध्ये किंचन मो मा अममत् म्रियताम । अत्रेन्द्रियनाशे जीव-
नाशः । देहनाश इन्द्रियनाश इति स मा भूदित्यर्थः । “अपाणिपादो ज्वनो
ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकणः” इत्यादिश्रुत्या तवैव सर्वान्तर्यामित्वेन
प्रवर्तकत्वोपपादनात् ॥ १ ॥

अज्ञानावृतज्ञानत्वेन मृता इव जीवा ज्ञानदानेन त्वयैव जीव्यन्त इत्याशयेन
द्वितीयामृचमाह—

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहभे-
षजी । शिवा रुद्रस्य भेषजी तथा नो मृड
जीवसे ॥ २ ॥

हे हि परमेश्वरस्य तनू । रक्षकत्वादेका शिवा । संहारकत्वादन्या घोरा
तत्र हे रुद्र या ते शिवा शुद्धसत्त्वोपाधिका तनुरस्ति सा शिवा मोक्षदायिनी
भवरोगातार्तानां विश्वाहस्तु सर्वदैव भेषजी भेषजवत्सद्यो रोगनिवार्तिका । तस्यैव
रुद्रस्य या घोरा कामकश्मला तनूः साऽपि शिवा विषयिणां स्वर्गादिफलदातृत्वेन
मनसो दैन्यप्रयुक्तस्वेदादिरोग निवार्तिका । अत एव एव साऽपि भेषजी पुण्यक्षयेण
स्वर्गाद्यैश्वर्यभ्रंशदर्शनात्पुनरपि रोगप्राप्त्या नात्यन्तनिवार्तिकाऽतो वस्तुतस्तस्या घो-
रत्वम् । हे मृड विश्वाहभेषज्या तथा तनुवा नोऽस्माञ्जीवसे जीवयसे । यलोप-
श्रुतान्दसः ॥ २ ॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयदीराय
प्रभरामहे मतिम् । यथा नः शमसद्विपदे
चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुर
॥ ३ ॥

तवसे तवीयसे कर्मानुरूपफलदात्रे कपर्दिने तपस्विने “यस्य ज्ञानमयं तपः”
इति श्रुतेः । क्षयन्तः क्षयं प्राप्नुवन्तो वीराः कामादयो यस्मात्तस्मै क्षयदीराय
रुद्राय परमशिवायेषां मतिं प्रभरामहे नमस्तुतिसमन्वितां बुद्धिं समर्पयामः । यथा
येन बुद्धिसमर्पणेन द्विपदे विद्याविद्यारूपकारणशरीराय चतुष्पदे मनोबुद्ध्यहंकार-

चित्तचतुष्टयरूपिणेऽन्तःकरणाय शमसत्सुखं भवेत् । तथाऽस्मिन्प्राप्ते देहे विश्वं सर्वमिन्द्रियप्राणाद्यपि पुष्टिं सर्वशक्तिसमान्वितमनातुरं कार्यक्षमं च स्यात् । ३ ॥

मृडा नो रुद्रो तनो मयस्कृधि क्षयदीराय
नमसा विधेम ते । यच्छं य योश्च मनुरा-
यजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतौ ॥४॥

हे मृड हे रुद्र उत अपि च नोऽस्माकमयस्कृधि सुखं कुरु । संबुद्धिद्वयं घोराधोरतन्वमिप्रायम् । न केवलमुपाधिभ्यस्तदभिमानिभ्योऽस्माकमपि सुखं कुर्वित्यभिप्रायेणोतशब्दः । ननु मया किमर्थमेवं कर्तव्यमित्यपेक्षायामाह—क्षयदीराय ते तुभ्यं नमसा विधेम नमस्कारैः सेवां करवाम । अस्मात्पिता मनुयेन वयं पानवा इति प्रसिद्धाः । यत् शं सुखसाधनं त्वत्परिचर्यादिरूपं योरित्यव्ययं प्राकर्भकल-वाचि तदुभयमायजे संपादितवान् । हे रुद्र तव प्रणीतौ तदश्याम प्राप्नुमः । वस्तु-तस्त्वात्मानात्मविचाररूपं “ श्रोतव्यो मन्तव्यः ” इत्यादिनाऽऽयजे । तव प्रणीतौ तदेवाश्याम किं क्षुल्लककर्माचरणेनेति भावः ॥ ४ ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न
उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् । मा नो वधीः
पितरं मोत मातरं प्रिया मा नस्तनुवो रुद्र
रीरिषः ॥ ५ ॥

नोऽस्माकं मध्ये यो महानात्मा “ स वा एष महानज आत्मा ” इति श्रुतेः । तं मा वधीः । आविद्यादोषेण मा तिरोहितं कुरु । उत नोऽर्भकः बालव-दन्तमात्रोपजीवी पराधीनश्च देहस्तं मा वधीः । उक्षति सिञ्चति वीर्यं चिदाभास-रूपमित्युक्षन् साक्षी तं मा वधीः । “ साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम् । चितेच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ” इत्युक्तेः । उक्षितं चिदाभासं मा हिंसीः । नोऽस्माकं पितरं प्राणं मातरमयानं च मा वधीः । “ ये देवा मनो-जाता मनोयुजः सुदक्षा दक्षपितरः ” इति श्रुतेः । तत्र दक्षः प्राणः । “ प्राणो वै दक्षः ” इति श्रुत्यन्तरात् । प्राणस्य पितृत्वे तदिरतस्य मातृत्वमर्थसिद्धम् । तथा हे रुद्र नः प्रियास्तनुवः शपदमादिवृत्तयो मा रीरिषः । कामादिदोषेण मा तिरेहीहताः कुर्वित्यर्थः ॥ ५ ॥

एवमभीष्टफलदातारं परमेश्वरं स्वयं स्तुवानो वेदपुरुषस्त्वन्यमण्युपादिशति -

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीमभु-

पहतुमग्रम् । मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो

अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ॥ ८ ॥

हे नर त्वं श्रुतं परमदयालुत्वेन प्रसिद्धं शिवं स्तुहि । तमेव विशिनष्टि—
गर्ते गुहायां शेते सीदतीति गर्तसत् तम् । “ गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ” इति
श्रुत्यन्तरात् । युवानं नित्यतरुणं जरारहितमित्यर्थः । मृगं न भीमं व्याघ्रमिव
भयंकरम् । इवार्थे नकारः । वस्तुतस्तु पापकृतामज्ञानामेव भयप्रदम् । उषहतुं
तत्त्वज्ञानशून्यान्पुनः पुनर्जन्ममरणक्लेशेन हननशीलमत एव तेषामेवोग्रमिति भावः ।
ननु स्तुहीत्युपदिश्यते कथं स्तोतव्यमत आह—हे मृडा जरित्रे पुराणपुरुषाय तुभ्य-
मेतदर्थं स्तवानो भवामि । हे रुद्र तव सेनाः संशयविषयासादिवृत्तयोऽस्मदस्मत्तोऽ-
न्यमनात्मज्ञं निवपन्तु निघ्नन्तु, इति हेतुना । शेषं समानम् ॥ ८ ॥

परि णो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य

दुर्मतिरंघायोः । अव स्थिरा मघवद्भ्यस्त-

नुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय ॥ ९ ॥

रुद्रस्य हेतिरविद्या पुनः पुनर्जन्ममरणादिदुःखहेतुर्नोऽस्मान्परिवृणक्तु परि-
वर्जयतु । तथा त्वेषस्य वरुद्धस्यांघायोः पापकृतो दुर्मतिरहंबुद्धिर्नः परिवर्जयतु ।
अज्ञानावृतो हि कोपनः पापकृच्च भवति । तादृग्रूपस्य दुर्मतिरस्माकं माऽस्तिव-
त्यर्थः । तथा मघवद्भ्यो हविर्दातृभ्यो यजमानेभ्यः स्थिरा बुद्धिरव तनुष्व ।
अत्र ‘ यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ’ इत्युक्तीत्या सर्वकर्मसम-
र्पणं हविस्तत्समर्पणेन प्रसेदिवान्परमेश्वरः स्थिरां मतिं तनुत इत्यर्थः । ह मीढ्व-
स्तोकाय तनयाय मृडयेत्युक्तार्थम् ॥ ९ ॥

ननु कोऽयमेश्वरो नाम योऽत्र पुनः पुनः स्तुतिगोचर इति । तत्र तावद्बहु-
मिबंहुवा कल्पितस्य तस्यानिश्चितस्वरूपतया न शृङ्गग्राहिकयाऽयमेवेति दर्श-
यितुं शक्यः । तथा हि केचिन्माण्डूक्यादिषूपन्यस्तं सौषुप्तं प्राज्ञमेवेश्वरमाक्षते ।
‘ यदनेन कृतं विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् । न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर

इतीरितः ॥ संस्काराणां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं न हीयते ” इत्यादिग्रन्थसंदर्भेण तस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च साधयन्ति । अन्ये पुनर्यथा जीवस्य लिङ्गशरीरमेवमीदृ-
स्यापि विशुद्धसत्त्वप्रधानं मायारूपं किमपि कारणशरीरं सर्वनियन्तृत्वेन प्रकल्प्य
तत्साक्षिणं परमात्मानं जीवसाक्षिणं प्रत्यगात्मानं निरुच्येमौ स्वोपाधिपक्षपातद-
शयां नियन्तृनियम्यभावेन तिष्ठन्तौ तद्विरहदशायामुदासीनबोधरूपवुपाधिप्रचार-
दर्शिनौ घटाकाशमहाकाशाविवाभेदेनैव प्रतीयेते इति । एतत्पक्षे कारणोपाधि
कार्योपाधिं नियच्छति । साक्षिणोत्सारोपमात्रम् । परे त्वीश्वराधीना त्वियम-
स्माभिर्जगतः प्रागवस्थाऽभ्युपगम्यते । अवश्यं च साऽभ्युपेया । तेन विना जग-
द्व्यापारानुमपत्तेः । इत्यादिनाखण्डसच्चित्सुखात्मनो ब्रह्मण एव समस्तजगदु-
पादानत्वं वर्णयन्ति । “ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ” । “ द्यावाभूमी
जनयन्देव एक ” इत्यादिश्रुतिसूत्रेभ्यः । अपरे तु “ एक एव हि भूतात्मा भूते
भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ” इत्यादिश्रुत्यनु-
रोधेन मायोपाधिं बिम्बात्मकं कल्पयित्वा लिङ्गदर्शप्रतिबिम्बितानन्ताञ्जीवानेव
बन्धमोक्षभाजः कल्पयन्ति । बिम्बात्मा तु सर्वज्ञो नित्यमुक्तश्चेति मन्यन्ते ।
सर्वथा ईश्वरः स्वतन्त्रः सर्वज्ञः किञ्चित्तो जीव इति सर्वसंपत्तम् । वस्तुतस्तु परि-
पूर्णचिन्मात्रस्वरूपस्य परमेश्वरस्योपाधिभूतमायायामिदमिदानीं स्रष्टव्यमिदमिदानीं
संहर्तव्यमिदमस्य कर्मेदमस्य कर्मेत्याकारका वृत्तिविशेषा जायन्ते । ते तत्रानुप-
लभ्यमानाः कार्येषूपलभ्यन्ते । यथा स्वमुखादौ विद्यमानानि शुभाशुभलक्षणानि
स्वेनादृष्टानि प्रतिबिम्बेषूपलभ्यन्ते तद्वत् । तेनाहमीश्वरः सर्वमिदं नियच्छामीत्ये-
वमनुभविता नारतीश्वर इति सिद्धवद्भवति । इदं चान्यद्रहस्यमवधेयम् । समाभि-
प्रायाणि परस्पराविरुद्धकर्तृणि सर्वाण्यपि लिङ्गशरीराणि तत्समदृष्टिरेव माया
नाम । तद्यथा प्रत्येकस्मिन्बीजे समानैव वृक्षनिनिर्माणशक्तिरेवं प्रत्येकस्मिन्लिङ्ग-
शरीरे जगन्निर्माणशक्तिरस्ति । अतस्तत्साक्षित्वेन वर्तमानः प्रत्येकजीव ईश्वरश-
ब्दवाच्यः । समानशक्तियोंगादातिसादृश्याच्च न जगद्भेदः प्रतीयते । अत एव यो
यो जीवो मायाशमनादुद्बुध्यते स स ईश्वरमेवाऽऽत्मानं मन्तते । तथा च श्रुतिः—
“ अहमन्यहमन्नमहं श्लोककृत ” इति भृगुः । अहं वृक्षस्य रेखिवेति त्रिश-
ङ्कुः । अहं मनुरभवामीति वामदेवश्च । अत एव “ ईश्वरोऽन्योऽहमप्यन्य इति
विच्छेदकारिणीम् । व्याक्षिप्य विद्ययाऽविद्यामीश्वरोऽहमिति स्मृतिः ” इत्याचार्या

अप्यवोचन् । ततश्च यत्र यत्रानावृतज्ञानं स स ईश्वर इति स्तूयते । यथा राम-
कृष्णजादिः । तत्र सत्त्वोत्कर्षेण पुण्योत्कर्षेण वाऽतिमानुषकमान्यथानुपपत्तिरेव
तदीश्वरत्वे प्रमाणयित्याहुः । अत एव विशिष्टशक्तिमान्सर्वोऽपि “ त्वं ब्रह्मा त्वं
विष्णुस्त्वं सूर्यं आत्मा जगत्स्वस्थुषश्च ” “ इन्द्रो यातोऽवासितस्य राजा ”
इत्यादिश्रुतिभिरीश्वरत्वेन स्तूयते । अनेनैव हेतुना वाचस्पतिमिश्राः प्रतिजीवं
प्रपञ्चभेदः प्रत्यभिज्ञाः चातिसादृश्यादित्याहुः । एवं च प्रत्येकस्मिँल्लिङ्ग-
शरीर एकैकप्रपञ्चोत्पादकत्वशक्तिसत्त्वादेव विनायकेन वरेण्याय श्रीकृष्णेनार्जुनाय
दत्तात्रेयेण परशुरामाय त्रिविक्रमभारतिने च शुभाय देव्या च विश्वरूपदर्शनं संग-
च्छते । वयमपि तत्त्वज्ञानेन कमादाविर्भूतसकलशक्तिभाजस्तथा करिष्यामः । त-
स्माच्छ्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिषु श्रूयमणा देवताः कथं परमेश्वरत्वेन स्तव्या इति
युज्यत एव श्रीरुद्रस्यापि तथात्वेन स्तुतिः । तत्र लिङ्गशरीरं शुभाशुभवासना-
वत्त्वेन द्विविधं तदुभयोपाधिराशिवः शिव इति वोच्यते । तत्र घोरमूर्ते प्रसाद्य-
संपति शिवमूर्ते प्रार्थयते—

मीढृष्टम शिवंतम शिवो नः सुमना भव ।

परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान्

आचर पिनाकं बिभ्रदागहि ॥ १० ॥

हे मीढृष्टम सकलाभीष्टसेचक त्वमस्माकं शिवो भव त्वायि शिवे सत्यस्माकं
सदा शिवमेव स्यादित्यर्थः । तथा त्वं नः सुमना भव । त्वायि सुमनसि सति
ज्ञानदातरि सत्यज्ञानजनितसंशयखेदापगमेन सदाऽऽस्माकं सौमनस्वमेव स्यादित्यर्थः ।
ननु किमेवं प्रार्थयतेऽत आह—परम इति । यतः शस्त्रास्त्रधारिणं त्वां दृष्ट्वा वय
बिभीमः । अतो यस्य च्छायायां त्वं सदा तिष्ठसि तस्मिन्नेव परमे वृक्षे महति
वटवृक्ष आयुधं शस्त्रास्त्रादिकलापं निधाय कृत्तिमात्रं वसानः सन् आचर यत्र
कुत्रापि संचर । इहाऽऽगन्तुमिच्छा चेद्विज्यं विशरं पिनाकमात्रं गष्टिवत्करे बिभ्रत्
आगहि आगच्छ । वस्तुतः परमेऽस्मिन्संसाररूपे वृक्षे कालरूपमायुधं निधाय कृ-
त्तिवैराग्यं वसानो धारयमाणः पिनाकं पणवात्मकं धनुःकरे बिभ्रत्पणवमुच्चारय
नित्यर्थः । सद्गुरुरूपेणाऽऽगत्य संसाररूपं वृक्षं छित्त्वा तच्चोपदेशेन कृतार्थं
कुर्वित्यर्थः ॥ १० ॥

विकिरिद विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।

यास्ते' सहस्रं हेतयोऽयमस्मान्निवपन्तु ताः

॥ ११ ॥

विशेषेण किरति वर्षतीति विकिरिः पर्णन्यः । तं ददातीति विकिरिदः । तत्संबुद्धो हे विकिरिद हे विलोहित आदित्यरूपेत्यर्थः । “ आदित्याज्जायते वृष्टिः ” इति स्मृतेः । हे भगवस्ते नमोऽस्तु । अत्राऽऽदित्यः प्राणः स चन्द्रकुण्डलिन्या संप्रज्य कण्ठकूपे पीयूषं वर्षतीति प्रसिद्धम् । तदुक्तं योगसूत्रे—कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिरिति । याश्च ते सहस्रमसंख्या हेतयः शस्त्राणि सन्ति ता अस्मत्तोऽन्यं निवपन्तु निघ्नन्वित्यर्थः ॥ ११ ॥

सहस्राणि सहस्रधा बाहुवोस्तव हेतयः ।

तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कधि

॥ १२ ॥

अत्र ते बाहुवोविधिनिषेधयोः सहस्रशो हेतयः आज्ञाः सन्ति । हे भगवः, तासौ मुखा मुखानि पराचीनानि कधि कुरु । यतस्त्वं तासामीशानः कर्ता भवसि । “ अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः ” इत्यातिश्रुतेः । तत्त्रोपदेशेन विधिनिषेधातीतात्कुर्वीत्यर्थः ॥ १२ ॥

इति श्रीरुद्रभाष्ये दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

सर्वान्तर्यामी परमेश्वरः स्तुतिगोचर इति दशमे स्थितम् । अथास्मिन्नेकादशानुवाके प्रत्येकस्मिन्नीश्वरत्वं पर्याप्तमिति यदुक्तं तद्विशदयति—

सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधि भूम्याम् ।

तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वा नि तन्मासि

॥ १ ॥

अत्र भुन्यन्तरिक्षे पाताले दिवि च ये जीवविशेषास्ते सर्वेऽपि रुद्रा ईश्वरा एव सर्वशक्तिभाज इत्युच्यन्ते । ननु कथमेतद्युक्तिसहं यतो न जीवेषु सर्वशक्तिमत्त्वमुपलभ्यते । केषुचिदेव परमेश्वरप्रसादादनुभूयते तपोबलाद्वा न सर्वेऽपि

चेत्सत्यम् । सन्त्येव सर्वज्ञक्तयो लिङ्गोपाधिषु जीवेष्वपि परमज्ञानावृततयाऽविद्य-
मानो इव भासन्ते । यदा तु परमेश्वरप्रसादादवाप्तज्ञाना भवन्ति तदा त्वाविर्भवति
तत्रापि सर्वशक्तिमत्त्वम् । वस्तुवस्तु सन्ति यद्यपि जीवेष्वपि सर्वाविद्याः सर्वशक्त-
यश्च यथाऽपि यन्निष्ठाज्ञाननिवृत्तिः सैव विद्या प्रकाशते । नैयायिकस्य व्याकर-
णज्ञानं वैयाकरणस्य न्यायविषयाज्ञानं संगच्छते । तस्मादेव नहि सर्वः सर्वज्ञ
इत्यभियुक्तोक्तिरपि संगच्छते । तथा यच्छक्तिप्रतिबन्धानिवृत्तिः । सैवाऽऽविर्भे-
वति । तत एव पुराणेतिहासादिषु महानुभावप्रभावाद्बहूनामन्वबधिरादीनां चक्षुः-
श्रोत्रादिलाभः स्मर्यते । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाय इति न्यायाद्यन्निमित्तम-
न्वबधिरत्वादि तन्निमित्तापाये नैमित्तिकान्धत्वादेर्निरासः संभवति । ततश्च यो यो
जीवा यं यं काममुद्दिश्य चिरं मनसा चिन्तयति प्रतिबन्धबलाबलतारतम्येन द्राघी-
यसाऽल्पीयसा वा तं तं लभते । तदुक्तं पञ्चदश्याम्—“ तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यथा
वासनया यथा । विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ” इति । इदमेव तपो
नाम । “ मनसश्चैन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः ” इत्युक्तेः । अयं च प्रति-
बन्धो जीवोपाधाविवेशोपाधावप्यस्ति । अन्यथाऽतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादय ईतयो न
स्युरिति बोध्यम् । अस्त्रेतत्प्रकृतमनुसरामः । सहस्राणि सहस्रशोऽसंख्याता ये
रुद्रा अधिभूम्यां भूमिमधिकृत्य स्थितास्ते सर्वेऽपि रुद्रांशत्वादुद्रा एव । तेषां ध-
न्वानि तत्फलीमूतर्हिंसात्मकवासना इतः सहस्रयोजने देशे अव अवततज्याकानि
कृत्वा तन्मासि स्थापयामः । जीवानां वासनाकौर्ष्यनिरासेन सद्वासनत्वं प्रार्थयाम
इति प्रघट्टकार्थः ॥ १ ॥

अस्मिन्महत्त्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि ॥ २ ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमा-
चराः ॥ ३ ॥

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिव्य रुद्रा उप-

श्रिताः ॥ ४ ॥

तथाऽस्मिन्महत्त्यर्णवे प्रसिद्धसमुद्रे संसारसमुद्रे च वर्तमामा ये जीवास्ते भवा
भवन्ति पुनः पुनर्जन्म लभन्ते ते भवाः शिवरूपा एव वस्तुतः । ये चान्तरिक्षेऽधि-

चरन्ति पक्ष्यादयस्ते नीलग्रीवास्तपोमया अज्ञा इति यावत् । तेऽपि शितिकण्ठाः प्रसिद्धशिवरूपा एव ये पुनरधःक्षमायां पाताले चरन्ति तेऽपि शर्वाः शिवरूपा एवेत्यवधार्यताम् । “ तत्सृष्ट्वा तदेवानुमाविशत् ” इति श्रुतौ स्रष्टुरेव प्रवेष्टृत्वम् । अन्यथा त्वापत्ययानुपपत्तेः । तथा “ स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये सै एकः ” “ तत्त्वमसि ” इत्यादौ जीवेशयोरभेदश्रवणाच्च । “ सर्वं खल्विदं ब्रह्म । नेह नानाऽस्ति किञ्चन ” इति जडमात्रस्यापि ब्रह्मानतिरिक्तत्वश्रवणे किं वाच्यं चेत-
नानां जीवानां ब्रह्मरूपात्वमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

ये वृक्षेषु सस्मिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः

॥ ५ ॥

ये च वृक्षेषु ब्रह्मराक्षसादिरूपेण वसन्ति ये च सस्मिञ्जरः पिञ्जररूपास्तृणा-
दिषु वसन्ति पिशाचरूपेण ये च नीलग्रीवा उपलक्षणमेतन्मयूरादिनानां पक्षिरूपा
भूतविशेषाः । तथा च श्रुतिः—“ इत्यादुलूक आपतत् हिरण्याक्षो अयोमुखः ।
रक्षसां दूत आगतः ” तदेतद्भूतान्यन्वाविश्य देवीं वाचं वदसीत्यर्थः । ये च
विलोहिताः स्मशानादिस्थानगता उत्प्लुकपिशाचाः सन्ति वेऽपि वस्तुतः शिवरूपा
एवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः

॥ ६ ॥

ये च भूतानामेषां सर्वेषामधिपतयो वेतालमैरवादयस्ते सर्वे विशिखासः शि-
खारहिताः कपर्दिनो रुद्रा एवेति भावः ॥ ६ ॥

ये अन्त्रेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनानि

॥ ७ ॥

ये च भुञ्जानाञ्जनान्त्रेषु विविध्यन्ति-कण्ठगतग्रासेनैव मारयन्ति ॥ ७ ॥

ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा यव्युधः ॥ ८ ॥

ये च पथां पथिरक्षयश्चोरादयः पथिकान्मारयन्ति । इलाया बिलं ऐलं बि-
लादि तत्र निरुध्य निघ्नन्ति । यव्युधः—अन्तरिक्षघ्नाः । यकारस्य व्योपवाचि-
त्वात् । तेषां सर्वेषां धन्वान्यव तन्मासि तत्त्वज्ञानेन शान्तिं नयामः । यद्वा—इरा

अन्नं रलयोरभेदात् । तत्समूह एलं तस्य दातारः । एवं युः शत्रुः । तैः सह युध्यन्ते ते यव्युधः । शेषं समानम् ॥ ८ ॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सूकावन्तो निषङ्गिणः

॥ ९ ॥

ये च रुद्राः सूका च्छुरिका संसारवृक्षस्य च्छेदकं शस्त्रं वैराग्यामिति यावत् । तद्वन्तः । ज्ञानरूपशराधायकत्वान्निषङ्गः शुद्धसत्त्वोपाधिस्तद्वन्तो ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः साधुरूपेण परोपकाराय तीर्थानि प्रचरन्ति तत्रैव प्रायशः साधुसमागमो भवति ॥ ९ ॥

य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वि-
तस्थिरे । तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि
तन्मसि ॥ १० ॥

ये च सृष्टिकालमारभ्य वेदप्रामाण्येन एतावन्त इति गणिता वसिष्ठवामदेव-
भृग्वादयः । ये चेत् उत्तरं भाव्या भूयांसोऽगणिता ब्रह्मविदो रुद्ररूपा जीवा
दिशो वितस्थिरे सर्वासु दिक्षु स्थितास्तेषामित्यादि पूर्ववत् ॥ १० ॥

समाप्ता ऋचः । इदानीं विश्वतैजसप्राज्ञादिव्यष्टिसमष्टिरूपेण रुद्रा नमस्क्रियन्ते

नमो' रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये
दिवि येषामन्नं वातो' वर्षमिषवस्तेभ्यो दक्ष
प्राचीर्दक्ष दक्षिणा दक्ष प्रतीचीर्दक्षोदीची-
र्दक्षोर्ध्वास्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते यं
द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तं वो जम्भे दधामि
॥ ११ ॥

तत्र विराट् विश्वश्च पार्थिवशरीराभिमानित्वात्पृथिव्यां तिष्ठति । हिरण्यग-
र्भस्तैजसश्च पार्थिवशरीराभिमानरहितत्वादन्तरिक्ष इव तिष्ठति । “ बहिष्कुला-
यादमृतश्चरित्वा ” इति श्रुतेः । ईश्वरप्राज्ञौ तदुभयरहितत्वाद्दिवीव तिष्ठतः । इदं
च योगिनां प्रत्यक्षम् । उक्तं च योगरत्नावल्याम्—

अनादिसिद्धमज्ञानं प्राज्ञमावृत्य तिष्ठति । एतत्प्राज्ञस्य प्राप्तत्वं स्वरूपाज्ञानयो-
मतः ॥ १ ॥

बहुजन्मान्तराभ्यासादीधरानुग्रहादपि । यदा विमर्शजा विद्या समुदेति विशु-
द्धधीः ॥ २ ॥

तिरस्कृत्य क्षणात्स्वस्याऽऽवरकं तिमिरं दृढम् । विशुद्धसत्त्वरूपेण प्रत्यगा-
त्मनि तिष्ठति ॥ ३ ॥

प्राज्ञसंज्ञां विहायासौ लभते प्रत्यगात्मनाम् । अथ तस्याप्यवस्थायां न देहो न
जगत्कचित् ॥ ४ ॥

भासते न च स स्थमो न मनस्तदुपाधिकम् । केवलानन्दसंदोहः परमात्मैव
दृश्यते ॥ ५ ॥

संप्रज्ञातसमाधौ तु नानैश्वर्यपददर्शनात् । तमेव स्वर्गमित्याहुस्तज्ज्ञा आरुणिकाः
श्रुता ॥ ६ ॥

जैमिनिरपि संप्रज्ञाते परमैश्वर्यं दर्शयति । “ सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सहेति श्रु-
तिरपि तदेवाऽऽविष्करोति । ततश्च “ क्षुत्खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्यः ” इति
श्रुतेः । क्षुधारूपशत्रुनिर्बहणमन्त्रमेवेषुर्बाणस्तेऽन्नेषवो विश्वजीवाः । तैजसास्तु
देहरक्षणाय वातं प्राणवायुं स्थापयित्वा देहाद्ब्रह्मिषान्तीति वातेषवः । प्राणो हि
सुसावुच्चैर्ध्वनति तेन देहापायकर्तारः सर्पादयो दूरं पलायन्ते । एवं वर्षं सोमकु-
ण्डलिन्याः स्रवदमृतं तच्च क्षुत्पिपासानिवर्तकं जरामृत्युहरं चेति प्रसिद्धं योगशा-
स्त्रे । तदेवेषुस्थानीयं माधनं येषां ते वर्षेषवः प्राज्ञा इत्यर्थः । प्रागग्रदशाङ्गुलि-
संपुटीकरणे दश प्राचीर्नमस्क्रिया भवन्ति । एवं दश दक्षिणा इत्येके । एवं
वस्तुतस्तु जीवो यां यां दिशं प्रति गच्छति तत्तदिगभिमुखानि दशेन्द्रियाणि
भवन्ति । यद्वा पूर्वस्थां स्वर्गलोको दक्षिणस्थां यमलोकौ नरकश्च प्रती-
च्यामसुरलोक उदीच्यां ब्रह्मलोक ऊर्ध्वायां ब्रह्मैव । ततश्च कर्मवशाज्ज्ञानवशाद्वा
जीवस्य तत्तल्लोकगमने तानि दशेन्द्रियाण्यपि जीवेन सह तत्र तत्र गच्छन्तीति
ज्ञाप्यते । “ न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ” इति श्रुतेरित्यर्थः । तेभ्यः सर्वेभ्यो
रुद्ररूपेभ्यो नमोऽस्तु । ते यूयं ब्रह्मविदो नोऽज्ञानमृडयत । तथा यं कंचन वयं
द्विष्मो यश्च नो बुद्धिपूर्वं द्वेष्टि तमुभयविधं शत्रुं वो युष्माकं जम्भे विदारितास्ये
दधामि स्थापयामि । अत्र यं च वयं द्विष्मः स रोगादिरायुर्विधातेन योगभ्रं-

शकरः शत्रुर्यश्च न कामादि द्वेष्टि योगाच्चावयति, “ आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ” इति पसिद्धतरः शत्रुस्तमुभयविधं जम्भे विदारितास्यतुल्ये ज्ञानाग्नौ निक्षिपामः । “ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ” इति गीतोक्तेः । अत्र सर्वकर्माणीत्युपलक्षणम् । ज्ञानप्रतिपक्षान्सर्वानपीति फलितोऽर्थः ॥ ११ ॥

इति श्रीविष्णुसूरिविरचिते रुद्रमाष्य एकादशोऽनुवाकः प्रथमाध्यायश्च समाप्तः ॥ १ ॥

अथाऽऽरभ्यते चगकम् । प्रथमेऽध्याये भक्तानुग्रहार्थमाविष्कृतनानामूर्तेः सर्वजगत्कारणस्य परिपूर्णस्य परमात्मनो मायोपाधिकं नानात्वं प्रतिपाद्येदानीं बाह्याभ्यन्तरचरिणविश्वरत्नसंज्ञावद्भाविष्णू प्रसाद्य नानाशिषः प्रार्थयते-

ॐ अग्नाविष्णू सजोषसेधा वर्धन्तु वां

गिरः । द्युम्नैर्बाजैर्भिरा गतम् ॥ १ ॥

अत्र विरड्विश्वादिरूपेण नानाविधं भोग्यमस्तीत्यग्निरीश्वरः । सत्तापका शाभ्यां सर्वं वस्तुजातं व्याप्नोतीति विष्णुः परमात्मा तौ । हे अग्नाविष्णू युवां सजोषसौ समानपीतियुक्तो वामिमाः स्तुतिरूपा अस्मदीया गिरौ वर्धन्तु तोषयन्तु युवामपि द्युम्नैर्द्रव्यैर्बाजैर्भिरनैश्च सहास्मत्संतोषायाऽऽगतमागच्छतम् । यथा पिता स्वापत्यतोषणाय किञ्चित्प्रयच्छति तद्वदित्यर्थः ॥ १ ॥

वाजंश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसि-
तिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे
लोकश्च मे श्रावश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योति-
श्च मे सुवश्च मे प्राणश्च मेऽपानश्च मे
व्यानश्च मेसुश्च मे चित्तं च म आधितिं
च मे वाक्च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे
श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च म ओजश्च
मे सहश्च म आर्युश्च मे जरा च म आ-

तस्मा च मे तनूश्च मे शर्मा च मे वर्त्म च
मेऽङ्गानि च मेऽस्थानि च मे रूपाणि च
मे शरीराणि च मे ॥ ८ ॥

हे अग्नाविष्णू मे वाजोऽन्नमस्तु । अध्यात्मपक्षे “स्थूलं तर्पयते त्रिं
तैजसः प्रविविक्तभुक् । आनन्दभुक् तथा पाज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ” इत्या-
चार्योक्तेः स्थूलादि त्रिविधमन्नमित्यर्थः । प्रसवः शमदमादिः “शान्तो दान्तः ”
इति श्रुतेः । प्रयतिः—ज्ञानजन्या शुद्धिः । “नहि ज्ञानेन सदृशं प्रवित्रमिह
विद्यते ” इति स्मृतेः । प्रसितिः—थावद्देहपातं देहबन्धनम् “तस्य तावदेव चिरं
थावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्यते ” इति श्रुतेः । धीतिर्देहधारणसामर्थ्यं “मुक्तोऽपि
तावद्बिभृयात्स्वदेहम् ” इत्युक्तेः । क्रतुः समाधिजं पुण्यं “क्षणमात्रं ब्रह्माकार-
वृत्तौ क्रतुचतुःसप्तत्या यत्पुण्यं तदवामोति ” इति पातञ्जलोक्तेः । स्वरोऽकाराद्यु-
पेतः प्रणवस्तद्रूपताऽस्तु । श्लोकः—जगद्धितता कीर्तिः । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिवेति
श्रुतेः । श्रावः श्रावयितृत्वम् । उपदेशसामर्थ्यमित्यर्थः । श्रुतिः श्रवणम् ।
“श्रोतव्यः ” इत्यादिश्रुतेः । ज्योतिः शुद्धसत्त्वपरिणतलिङ्गदेहप्रकाशः । “त-
र्द्ध्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ” इति स्मृतेः । स एव सुवः स्वर्गः ।
“तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ” इति श्रुतेः । प्राणापानव्या-
नाः प्रसिद्धाः । असुशब्देन समानोदानौ समानोदानवैकल्यं विना देहपातात्वा-
त्तस्यैव मुख्यप्राणत्वमित्यर्थः । चित्तं स्मरणशक्तिमदन्तःकरणवृत्तिविशेषः । अधी-
तमेवाऽऽधीताध्ययनजन्यं ज्ञानम् । वाग् यथार्थभाषणम् । मनः सैकल्यविकल्पा-
त्मकवृत्तिविशेषः । अत्राध्ययनस्य बुद्धिधर्मत्वादाधीतशब्देनोत्तरत्राहंकारस्य वक्ष्य-
माणत्वादन्तःकरणचतुष्टयं संपद्यते । चक्षुरिन्द्रियं प्रसिद्धम् । श्रोत्रं श्रवणेन्द्रियम् ।
दक्षशब्देन रसगन्धग्रहणपटुतरं रसनेन्द्रियं घ्राणेन्द्रियं बलं बलहेतुस्त्वगिन्द्रियमि-
त्येवं ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं मे भवत्वित्यर्थः । ओजोऽष्टमधातुर्भनसो धैर्यप्रदः । “तस्य
क्षये बिभेति दुर्बलोऽत्यर्थम् ” इति वैद्यकोक्तेः । सहःशब्देन पञ्चापि कर्मेन्द्रि-
याणि । आयुर्दीर्घायुष्ट्वम् । जरा च वयोवृद्धत्वम् । प्रौढिहेतुः । आत्मा चात्रा-
हंकार एव । शास्त्रप्रसिद्धस्य परमात्मन आशास्यकोटावप्रवेशात् । स च सात्त्वि-
को ब्रह्मविदां श्रूयते—“अहं श्लोककृत् । अहं मनुरभवत् सूर्यश्च । अहं वृक्षस्य

रेरिवा ” इत्यादिर्मुक्तिहेतुः । तनूर्विद्याविद्येति प्रसिद्धा । “ विद्यां चाविद्यां च
यस्तद्वेदोभयं सह ” । “ साशनानशने उभे ” इत्यादौ । शर्म ब्रह्मानन्दः ।
“ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ” इति स्मृतेः । वर्षं सर्वतो रक्षकं
ब्रह्मविज्ञानम् । “ अभयं जनकं प्राप्तोऽसि ” इति श्रुतेः । अङ्गानि चरणाद्यव-
यवाः । णस्थानि अस्थीनि । पक्षि जान्वादिपक्षाणि । शरीराणि नृपश्वादीनि
देहानि । नन्वत्र विद्यमानानामेव चित्तादीनां पुनरस्तिवति प्रार्थनमयुक्तमिति चेत्स-
त्यम् । तत्र चित्तादिशब्देन तत्तच्छक्तयः प्रार्थयन्त इत्यदोषः । तद्यथा—चक्षुःश-
ब्देन दूरदर्शित्वं श्रोत्रशब्देन दूरश्रवणादीत्यादि बोध्यम् ॥ १ ॥

इति चमकभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः ।

— — — — —

प्रथमेऽनुवाके स्थूलसूक्ष्मदेहौ तदुपजीव्यमन्त्रादिकं चाऽऽशास्येदानीं द्वितीयेऽ-
नुवाके ज्ञानजन्याः सिद्धीराशास्ते—

ज्यैष्ठ्यं च म आधिपत्यं च मे मन्त्र्यश्च मे
भामश्च मेऽर्भश्च मेऽम्भश्च मे जेष्ठा च मे
महिमा च मे वरिष्ठा च मे प्रथिष्ठा च
मे वर्ष्मा च मे द्राघुया च मे वृद्धं च मे
वृद्धिश्च मे सत्यं च मे अद्धा च मे
जगच्च मे धनं च मे वशश्च मे त्विषिश्च
मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे
जनिष्यमाणं च मे सुक्तं च मे सुकृतं च
मे वित्तं च मे वेद्यं च मे भुतं च मे भवि-
ष्यच्च मे सुगं च मे सुपथं च म ऋद्धं
च म ऋद्धिश्च मे कलुप्तं च मे कलुप्तिश्च
मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे ॥ २ ॥

हे भगवन्मे ज्यैष्ठ्यमार्ताथार्थिजिज्ञासूनां श्रेष्ठत्वमस्तु तदुक्तं गीतासु—“उदाराः
सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ” इति । मन आदीनामाधिपत्यं च मेऽस्तु ।

“ वाक्पतिर्मनस्पतिः ” इत्यादिश्रुतेः । मन्युर्विषयतिरस्कारः । भागो देहाद्युपाधे-
रपि तिरस्कारः । अमोऽपमेयत्वम् । लोकैरज्ञातलिङ्गत्वं न विदन्ति जना थं वै
सोऽसाविति न वेति चेति भागवतोक्तेः । अम्भो देहान्तरारम्भकतत्त्वविशेषः ।
“ आपः पुरुषवचसो भवन्ति ” इति श्रुतेः । येन नानादेहधारणसामर्थ्यं संजा-
यते । जेषा कामादिजयसामर्थ्यम् । महिमा सर्वतो महत्तरत्वम् । “ अणोरणीया-
न्यहतो महीबान ” इति श्रुतेः । वरिमा वरदानसामर्थ्यम् । प्रथिमा प्राप्तिवृद्धिः ।
विद्याद्युदासीनगुजानां ख्यातिः कीर्तिः, द्रातत्वादिपरोपकारगुणख्यातिः प्रसिद्धि-
रिति भेदः । वर्ष्मा भेदोवृद्धिः । शोभाहेतुत्वात् । द्राघुया सद्गुणानां दृढवृद्धिः ।
यद्वृद्धं ज्ञानादिकं या च पुनस्तस्योत्तरोत्तरमानीवृद्धिः साऽप्यस्तु । सत्यं शत्रुभिः
त्रादिषु समदर्शनम् । श्रद्धा—आत्मास्तिक्यवृद्धिः । जगत् हार्दाकाशस्थं विश्वम् ।
“ यच्चेहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते ” इति श्रुतेः । धनं सत्य-
संकल्पजन्या संपत् । “ संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ” इत्यादिश्रुतेः ।
ब्राह्मणजैमिनिरुपन्यासादिभ्य इति सत्राच्च । वशो जितेन्द्रियत्वम् । त्विर्ब्रह्म-
वर्चसम् । क्रीडा—आत्मन्येव शिशुवल्लीला । मोद आत्मानन्द आत्मरतिर्वा । आ-
र्त्तक्रीड आत्मरतिरिति स्मृतेः । जातमतीतज्ञानम् । जनिष्यमाणमनागतज्ञानम् ।
सूक्तं यथार्थभोषणम् । सुकृतं ज्ञानयज्ञजन्मपूर्वम् । “ तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽ-
त्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी ” इत्यनुवाकप्रसिद्धम् । वित्तं ज्ञातं देहादि जगत् ।
वेद्यं प्रत्यगात्मतत्त्वम् । तदुभयमपि जीवन्मुक्तिसुखार्थमस्तु । भूतं परं ब्रह्म यावि-
ष्यदं धर्मजन्यमपूर्वं स्वर्गादि तच्च देहपातोत्तरं भविष्यत् । न च विरुद्धमेतदिति
मन्तव्यम् “ श्रोत्रियस्य चाकामहतस्म ” इति श्रुतेर्जीवन्मुक्तोऽपि यदि कामहतः
स्यात्तर्हि तदभिप्रायेण स्वर्गप्रार्थनमपि न विरुध्यते । तदुक्तं भागवते—“ यदि
प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यम् ” इत्यादि । सुगं शोभना गतिर्विदेहमुक्तिः । सुपथं सुषु-
म्नामार्गेण ब्रह्मलोकगतिः । ऋद्धं स्वर्गसुखम् । ऋद्धिर्ब्रह्मलोकसंपत् । क्लृप्तं देह-
प्रारब्धम् । भोगैर्नैव क्षण्यम् । क्लृप्तिः संचितानागतयोः क्षयसामर्थ्यम् । मतिः
ऋतंभरा नाम प्रज्ञा योगशास्त्रप्रसिद्धा । सुमतिर्ब्रह्मविद्या । “ तत्त्वमस्यादिवाक्यो-
त्थसम्यग्धीजन्ममावतः । अविद्या सह कार्यैश्च नाऽऽसीदस्ति भविष्यति ” इत्यु-
क्तप्रभवा ॥ २ ॥

इति चमकभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः ।

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च
मे कामश्च मे सौमनश्च मे भद्रं च मे
श्रेयश्च मे वस्यश्च मे यशश्च मे भगश्च
मे द्रविणं च मे यन्ता च मे धर्ता च मे
क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च
मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च
मे सीरं च मे लयश्च मे ऋतं च मेऽमृतं
च मे यक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवा-
तुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनामित्रं च मेऽ-
भयं च मे सुगं च मे शबनं च मे सुषा
च मे सुदिनं च मे ॥ ३ ॥

शं ब्रह्मात्मैक्यानभवजन्य आनन्दः । मयो ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः संतोषः । तथा
च श्रुतिः -“ तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः ”
इत्यादिः । अन्वनुकाम्यतेऽसावनुकामः शपः । “ निचाय्य तं शान्तिमत्यन्त-
मेति ” इति श्रुतेः । ज्ञानिनो हि शान्तिकामाः । काम्यतेऽसौ कामो दमः । अ-
व्यभिचारी कामो वा । सौमनसस्तदुभयप्रयुक्तनिर्विकारावस्थानम् । भद्रादिशब्दैः
षड्विधक्लेशराहायमुच्यते । तदुक्तं “ गर्भे जनौ च बाल्ये च यौवने स्थाविरेऽपि
च । मरणे चेति संक्लेशाः षड्विधाः संप्रकीर्तिताः ॥ इति । तत्र मुक्तस्य पुनरुत्प-
त्त्यसंभवात्सर्वथा क्लेशाभाव इत्येकः पक्षः । सत्यपि तस्मिन्दुःखाभाव इत्यपरः ।
तद्यथा भद्रं गर्भेऽपि सुखं वाग्देवादिवत् । श्रेयो जननेऽपि सुखं श्रीकृष्णादिवत् ।
वस्यो बाल्येऽपि सुखं शुकादिवत् । यशो यौवनेऽपि सुखं नारदादिवत् । भगः
स्थाविरेऽपि सुखं सनत्कुमारादिवत् । मरणेऽपि सुखं वसिष्ठादिवत् । द्रविणमि-
त्यर्थः । यन्ता आनन्दमयः । धर्ता विज्ञानमयः । क्षेमो मनोमयः । धृतिः प्राण-
मयः । विश्वमन्त्रमय इति पञ्चापि कोशा षड्विधाः सन्तिवत्यर्थः । तदुक्तं पञ्चा-
शिकायाम्-“ यन्ताऽहं धर्ताऽहं कर्ताऽहं मृत्युतो न भीतिर्मे देहः सर्वस्वं मे जाने

यत्सर्वदाऽत्र साक्षितयेति । महश्चिन्मयप्रकाशः । संवित्सर्वभूतेष्वात्मबुद्धिः । ज्ञानं
स्वरूपस्फूर्तिः सूर्याविद्या । प्रसूमाया । सीरं तदुभयविचारसाधनं शास्त्रं च मेऽस्तु
मज्ज्ञानगोचरं भवतु । लयो मनोवृत्तेर्बलाणि । कृतं कपमुक्तिः । अमृतं सद्योमुक्तिः ।
अयक्ष्मं यावज्जीवं शरीरस्वास्थ्यम् । अनामयत् क्षुद्ररोगराहित्यम् । जीवातुर्जीव-
नौषधं तेनैव दीर्घायुष्ट्वम् । अनमित्रं शत्रुराहित्यम् । तावतैवाभयम् शुभं सन्मार्ग-
प्रवृत्तिः । यद्यपि जीवन्मुक्तस्य नास्ति पापादिसंबन्धस्तथाऽपि लोकप्रवृत्त्यर्थं त-
स्यापि सन्मार्गप्रवृत्तिर्निर्याद्येति भावः । शयनं स्वरूपावस्थानम् । सूषा दुर्मुखदर्श-
नाभावः । सुदिनमानिष्टवार्ताद्यश्रवणं मेऽस्तु ॥ ३ ॥

इति चमकभाष्ये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

एवमनुवाकत्रयेण पारमार्थिकसुखान्पाशास्य जीवन्मुक्तिदशायां पारब्धयोगेन
कतिपयकालपर्यन्तं देहावस्थानात्तदुपजीव्यपदार्थापेक्षाऽप्यर्थसिद्धेति सांसारिकसुख-
साधनानि कानिचिद्वस्तुन्याशास्ते—

ऊर्क् च मे सुनृता च मे पर्यश्च मे रसश्च मे
घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च
मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे औद्भि-
द्यं च मे रचिश्च मे रायश्च मे पष्टं च मे
पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे बहु च
मे भूयश्च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मेऽऽक्षि-
तिश्च मे कूयवाश्च मेऽन्नं च मेऽशुचिश्च मे
व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च
मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे गोघृमाश्च मे
मसुराश्च मे यिङ्गबश्च मेऽणवश्च मे
श्यामाकाश्च मे नीबाराश्च मे ॥ ४ ॥

ऊर्क् बलहेतु रस औषध्यादिजनितः कषायः सुनृता यथार्थभाषणं व्यव-

इति चमकभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः ।

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च
मे कामश्च मे सौमनश्च मे भद्रं च मे
श्रेयश्च मे वस्यश्च मे यशश्च मे भगश्च
मे द्रविणं च मे यन्ता च मे धर्ता च मे
क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च
मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च
मे सीरं च मे लयश्च मे ऋतं च मेऽमृतं
च मे यक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवा-
तुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनामित्रं च मेऽ-
भयं च मे सुगं च मे शर्वनं च मे सुषा
च मे सुदिनं च मे ॥ ३ ॥

शं ब्रह्मात्मैक्यानभवजन्य आनन्दः । मयी ब्रह्मज्ञानप्रयुक्तः संतोषः । तथा
च श्रुतिः - “ तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः ”
इत्यादिः अम्बनुकाम्यतेऽसावनुकामः शपः । “ निचाय्य तं शान्तिमत्यन्त-
मेति ” इति श्रुतेः । ज्ञानिनो हि शान्तिकामाः । काम्यतेऽसौ कामो दमः । अ-
व्यभिचारी कामो वा । सौमनसस्तदुभयप्रयुक्तनिर्विकारावस्थानम् । भद्रादिशब्दैः
षड्विधक्लेशराहायभुच्यते । तदुक्तं “ गर्भे जनौ च बाल्ये च यौवने स्थाविरेऽपि
च । मरणे चेति संक्लेशाः षड्विधाः संपर्कातिताः ॥ इति । तत्र मुक्तस्य पुनरुत्प-
त्त्यसंभवात्सर्वथा क्लेशभाव इत्येकः पक्षः । सत्यपि तस्मिन्दुःखाभाव इत्यपरः ।
तद्यथा भद्रं गर्भेऽपि सुखं वामदेवादिवत् । श्रेयो जननेऽपि सुखं श्रीकृष्णादिवत् ।
वस्यो बाल्येऽपि सुखं शुकादिवत् । यशो यौवनेऽपि सुखं नारदादिवत् । भगः
स्थाविरेऽपि सुखं सनत्कुमारादिवत् । मरणेऽपि सुखं वसिष्ठादिवत् । द्रविणमि-
त्यर्थः । यन्ता आनन्दमयः । धर्ता विज्ञानमयः । क्षेमो मनोमयः । धृतिः भाण-
मयः । विश्वमन्त्रमय इति पञ्चापि कोशा षड्दशाः सन्तिवत्यर्थः । तदुक्तं पञ्चा-
शिकायाम्-“ यन्ताऽहं धर्ताऽहं कर्ताऽहं मृत्युतो न भीतिर्मे देहः सर्वस्वं मे जाने

यत्सर्वदाऽत्र साक्षितयेति । महश्चिन्मयप्रकाशः । संवित्सर्वभूतेष्वात्मबुद्धिः । ज्ञानं
स्वरूपस्फूर्तिः सूरविद्या । प्रसूर्माया । सीरं तदुभयविचारसाधनं शास्त्रं च मेऽस्तु
मज्ज्ञानगोचरं भवतु । लयो मनोवृत्तेर्ब्रह्माणि । कृतं कर्ममुक्तिः । अमृतं सद्योमुक्तिः ।
अयक्ष्मं यावज्जीवं शरीरस्वास्थ्यम् । अनामयत् क्षुद्रोगराहित्यम् । जीवातुर्जीव-
नौषधं तेनैव दीर्घायुष्ट्वम् । अनमित्रं शत्रुराहित्यम् । तावतैवाभयम् शुभं सन्मार्ग-
प्रवृत्तिः । यद्यपि जीवन्मुक्तस्य नास्ति पापादिसंबन्धस्तथाऽपि लोकप्रवृत्त्यर्थं त-
स्यापि सन्मार्गप्रवृत्तिर्न्याय्येति भावः । शयनं स्वरूपावस्थानम् । सूषा दुर्मुखदर्श-
नाभावः । सुदिनमानिष्टवार्ताश्रवणं मेऽस्तु ॥ ३ ॥

इति चमकभाष्ये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

एवमनुवाकत्रयेण पारमार्थिकसुखान्धाशास्य जीवन्मुक्तिदशायां प्रारब्धयोगेन
कतिपयकालपर्यन्तं देहावस्थानात्तदुपजिग्यपदार्थापेक्षाऽप्यर्थसिद्धेति सांसारिकसुख-
साधनानि कानिचिद्वस्तुन्याशास्ते—

ऊर्क्च मे सूनृता च मे पर्यश्च मे रसश्च मे
घृतं च मे मधुं च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च
मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे ओद्भि-
द्यं च मे रचिश्च मे रायश्च मे पष्टं च मे
पुष्टिश्च मे विभुं च मे प्रभुं च मे बहुं च
मे भुर्यश्च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मेऽऽक्षि-
तिश्च मे कूर्यवाश्च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे
ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च
मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे गोघृमाश्च मे
मसुराश्च मे यिङ्गबश्च मेऽणवश्च मे
श्यामाकाश्च मे नीबाराश्च मे ॥ ४ ॥

ऊर्क् बलहेतु रस औषध्यादिजनितः कषायः सूनृता यथार्थभाषणं व्यव-

हारेऽपि । दुग्धं गव्यं माहिष्यं च । रस इक्ष्वादेः । घृतं गव्याद्यन्यतमम् । मधु
 माक्षिकम् । सग्धिः सहभोजनम् । सपीतिः सहपानम् । कृषिः क्षेत्रारामादिसमृ-
 द्धिः । तज्जीवनाय यथाकालं वृष्टिश्च । जैत्रं जयसामर्थ्यावहं सुरामांसादि ।
 अवश्यं विक्रमवतो राजस्तदपेक्षणात् । स्मर्यते च जनकादयोऽपि राजन्या ब्रह्म-
 निदः । औद्भियं गवाश्चाद्युपजीव्यं तृणादि । रग्लक्षकोट्यादिसंख्यं धनमात्रं येन
 धनिन इत्युच्यन्ते । रायश्छत्रचामरादिसंपदः । यामी राजान इत्युच्यन्ते । पुष्टं
 भार्यापत्यादिः । तथा च श्रुतिः--“ पीवर्यस्य जाया पीवानः पुत्रा अकृशासो
 अस्य ” इति । एवं मदीयेऽपि शरीरे पुष्टिरस्त्वित्यर्थः । विम्वाद्याक्षितिशब्दैः सप्त
 राज्याङ्गान्युच्यन्ते । विभ्विति विभुशब्देनामात्यसंताप्तिः । प्रभुशब्देन स्वयं स्वामी ।
 बहु सुहृद्बाहुल्यम् । भूयः कोशबाहुल्यम् । पूर्णं राष्ट्रम् । पूर्णतरं दुर्गबाहुल्यम् ।
 अक्षितिः सैन्यसंपत्तिः । कूयवाः सूक्ष्मयवा आरण्याः । येषां पिष्टं पुष्ट्यै विनि-
 युज्यते । अन्नमदनीयभोग्यम् । क्षुद्धेजनशक्तिः उभयमेवापेक्षितम् “ भोग्यं
 भोजनशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ” इत्युक्तेः । व्रीह्यादीनि नीवारान्तानि
 द्वादश धान्यानि । नत्र खल्वाश्चणकाः । अन्यदतिरोहितम् ॥ ४ ॥

इति चमकभाग्ये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अङ्गमा च मे मृत्तिका च मे गिर्यश्च मे
 पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे
 हिरण्यं च मेऽयश्च मे सीसं च मे त्रपुश्च
 मे श्यामं च मे लोहं च मेऽग्निश्च मे आ-
 पश्च मे वीरुधश्च मे ओषधयश्च मे कृष्टप-
 च्यं च मेऽकृष्टपच्यं च मे ग्राम्याश्च मे
 पशव आरण्याश्च यज्ञेन कान्तां वित्तं च
 मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे वसुं
 च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च
 मेऽर्थश्च मे एमश्च मे इतिश्च मे गतिश्च मे

अश्मेति जातावेकवचनम् । “ धातुपाषाणमृत्तनाद्याः सर्वे ते पृथिवीपतेः ”
इत्युक्तीत्याऽऽभाद्याः पार्थिवपदार्था मद्वीनाः सन्तिवत्यर्थः । अश्मानः पाषाणाः ।
गिरयो नद्युद्गमस्थानभूता महापर्वताः । पर्वताः केवलशिखोच्चयाः । सिकता
वालुकाः । वनस्पतयोऽध्वत्याद्याः । “ अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः
रमृताः ” इति मानवात् । हिरण्यं सुवर्गम् । तत्सपनन्तत्पाठादयः शब्देन रौप्यम् ।
अयः शुभावहविधौ रौप्ये काष्ठाग्नयेऽपि चेति कोशान्तरात् । सीसं प्रसिद्धम् ।
त्रपूर्वङ्गम् । श्यामं काष्ठाग्नयसं लोहविशेषः । लोहं प्रसिद्धम् । अभिजाठरः स
प्रदीप्तोऽस्तु । आप आप्नोऽग्निर्धनं जलं पचयते तृष्णां चोत्पद्यते । वीरुवः फलि-
न्यः पुष्पिण्यश्च लताः । ओषधयः फलसकान्ता दूर्वादयश्च कर्पण्याः । कृष्टाच्यं
गृहस्थोपयोग्यञ्चम् । अकृष्टाच्यं वानपस्थानामुशीर्णां च । ग्राम्या आरण्याश्च
पशवो देवानाम् । अत एव ते यज्ञेन कलान्ताम् । वित्तं पित्रार्जितं धनम् । वित्तिः
स्वसंपादितवित्तं संपादनशक्तिर्वा । भूतं गुप्तं धनम् । भूतिः प्रकटं राज्यादि । वसु-
भाण्डोपकरणादिकं तद्युक्ता वसतिर्गृहं च । कर्म यज्ञादि तदर्थं शक्तिश्च । अर्थोऽ-
र्थशास्त्रं कलाकौशल्यं येन संपद्यते । एम इहलोके यशः । इतिः संकल्पासीद्धिः ।
गतिः स्वर्गादिः ॥ ५ ॥

इति चमकभाष्ये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

एवमनुवाकद्वयेन सांसारिकसुखं संप्राप्त्यर्थेदानीं काश्चिद्देवता अन्तर्यामिप्रेयां
निर्दिश्य सर्वासामपि देवतानामन्तर्यामीन्द्र एव प्रेरक इत्युपदेष्टुं सर्वस्यापीन्द्रशब्द-
संबन्धमाह-

अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च
मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च
म इन्द्रश्च मे पुषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्प-
तिश्च म इन्द्रश्च मे मित्रश्च म इन्द्रश्च
मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म
इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे विष्णा-
श्च म इन्द्रश्च मेऽश्विनौ च म इन्द्रश्च

मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वं च मे
 देवा इन्द्रश्च मे पृथिवी च म इन्द्रश्च
 मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे द्यौश्च म
 इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे मूर्धा
 च म इन्द्रश्च मे प्रजापतिश्च म इन्द्रश्च
 मे ॥ ६ ॥

तत्र “ इन्द्रो मायामिः पुरुरूप ईयते ” इति श्रुत्या परमात्मैवेन्द्रः । स
 एव सर्वदेवतास्वरूपः । “ एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ” इत्यादिश्रुत्यन्तरात् ।
 अतीत्यग्निर्मोक्षा जीवः सोऽपीन्द्र एव । मेऽस्त्विति सर्वत्र संबन्धः । उभया
 सहितः सोम ईश्वरः सोपीन्द्रः परमात्मा । तत्रैवेश्वरत्वाध्यसात् । षूङ् प्राणिप्रसव
 इति धातोः सविता सृष्टिकृत् ब्रह्मा तच्छक्तिश्चेन्द्र इति । “ लोके स्त्रीवाचकं
 यच्च यच्च पुंशब्दवाचकम् । परमेव हि तत्तत्त्वमवैहि व्यासनन्दन ” इति
 स्कान्दोक्तेः । पुष्पाति तल्लदेहमिति पूषाहंकारोपाधिर्जीवः । स एव बुध्याधि-
 ष्ठाता बृहस्पतिः । स एव मृत्योस्त्रायत इति मित्रो मनसस्पतिः । “ मनो हि
 मयधैर्याभ्यां रोगारोग्यं प्रसूचयेत् ” इति याज्ञवल्क्योक्तेः । स एव चिद्रूपेण
 वरुणस्त्रिकालदर्शी स सर्वोऽपीन्द्र एव तत्तदात्मा । तेन च ब्रह्मविद्याऽऽयुर्विद्या
 ज्योतिर्विद्येति बुद्धिमनःश्चित्तानां यथाक्रमं विद्यात्रयमुक्तं भवति । अथामूषामेव
 विद्यानामुपविद्यापञ्चकमाह—त्वष्टेति । त्वष्टा चक्षुर्विद्याधिपतिः । यया विप्रकृष्ट-
 व्यवहितदूरस्थितमपि वस्तु समीपस्थमिव दृश्यते । धाता दूरश्रवणविद्याधिपतिः
 श्रोत्राधिष्ठाता । विष्णुर्दूरस्थरसास्वादनकृद् रसनेन्द्रियाभिमानी । दूरस्थगन्धो-
 पलब्धिहेतुरश्विनीकुमारस्वरूपः प्राणाधिपतिर्दूरस्थस्पर्शज्ञानहेतुर्मरुद्रूपस्त्वगिन्द्रिया-
 भिमानी स सर्वोऽपीन्द्र इत्यर्थः । ये पुनरवशिष्टकरणाभिमानीनो विश्वेदेवास्तेऽ-
 पीन्द्रस्वरूपा एव । तथा पृथिव्यन्तरिक्षं द्युलोको मनुष्यादिनिवासभूतास्तेऽपि
 तदानन्दांशत्वात्तद्रूपाः । एवं दिशो दिगभिमानिन्यो देवता इन्द्रस्वरूपाः । मूर्धा
 ब्रह्मलोकश्छान्दोग्यादौ वर्णितस्तत्रत्यप्रजापतिश्चेन्द्ररूपो मम श्रेयसे भूयादित्यर्थः ।
 यथाश्रुतेऽपीन्द्रो हि सर्वदेवतासु महत्तरः । तथा च श्रुतिः—तस्मादिन्द्रो देव-
 तानां भूयिष्ठमात्मनः, इति ॥ ६ ॥

इति चमकभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

स्थितमेतत्षष्ठेऽनुवाके सर्वस्वरूपत्वमिन्द्रशब्दवाच्यस्य प्रत्यगात्मनः । इदानीं यथोक्तज्ञानसंपन्नस्य विदुषः किमविदुष इव प्राणोत्क्रान्तिरुतास्ति विशेष इत्य-
पेक्षायामाह । तत्र निरपेक्षस्य नास्ति प्राणोत्क्रमणं “ न तस्य प्राणा ह्युत्क्राम-
न्तीहैव समवलीयन्ते ” इति श्रुत्यनुसारेण तदीयप्राणाः प्रत्यगभिन्नपरमात्मन्येव
विलीयन्ते । सापेक्षस्य ब्रह्मलोकजिगमिषोरपि सृतिरनेकधा श्रूयते—कचिच्चाडी-
रश्मिसंबन्धेन कचिदार्चिरादिमार्गेण क्वचिदग्निवायुसूर्यद्वारेण स एवैतं देवयानं
पन्थानमापद्यान्निलोकमागच्छति । यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमाग-
च्छति । “ सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रथान्ति ” इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवमनियमे
प्राप्त कश्चिन्नियमो वक्तव्यः । तत्र “ रश्म्यनुसारि ” इति सूत्रानुसारेण “ अथै-
तैरेव रश्मिभिरुध्वमाक्रमते ” इति श्रुत्यन्तरानुरोधाच्चास्ति नियमः ।

अ॒ऽशुश्च॑ मे र॒श्मिश्च॑ मेऽदा॑भ्यश्च॒ मेऽधि॑-
पतिश्च॑ म उपा॒ऽशुश्च॑ मेऽन्तर्या॑मश्च॒ म
ऐन्द्र॑वा॒यवश्च॑ मे मैत्रा॑वरु॒णश्च॑ म आ॒श्वि-
नश्च॑ मे प्रति॒प्रस्थान॑श्च॒ मे शुक्र॑श्च॒ मे
म॒न्थी च॑ म आग्र॒यणश्च॑ मे वैश्व॑दे॒वश्च॑
मे ध्रु॒वश्च॑ मे वैश्वान॑रश्च॒ म ऋतु॑ग्रहाश्च॒
मेऽति॑ग्रा॒ह्याश्च॑ म ऐन्द्रा॑मश्च॒ मे वैश्व॑दे॒वश्च॑
मे मरु॑त्वतीयाश्च॒ मे माहेन्द्र॑श्च॒ म आदि॑-
त्यश्च॑ मे सावि॒त्रश्च॑ मे सार॑स्वतश्च॒ मे
पौ॒ष्णश्च॑ मे पा॒त्नीव॑तश्च॒ मे हारि॑योज॒नश्च॑
मे ॥ ७ ॥

अत्रांशुशब्देन तेजोमयी सुषुम्ना नाडी “ तयोर्ध्वमायन्मृतत्वमेति विष्णु

गन्या उत्क्रमणे भवन्ति ” इति श्रुतेः । रश्मिशब्देन तदीया रश्मयः । जातावे-
कवचनम् । यथोक्तब्रह्मवित्सांपरायसमये प्रियतमेव सुषुम्नयाऽऽलिङ्गितस्तदीय-
रश्मिभिश्चाऽऽप्यायित ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकगमनाय प्रक्रमते । तदानीं चायमदाभ्यो
भूतकृतशोषणप्लोषणाद्यभावादक्षोभ्यः । किंचायमधिरतिरणिमदिसर्वसिद्धीनाम् ।
एतत्पक्षे मम जीव एवंभूतोऽस्त्विति संबन्धः । इडापिङ्गलानाडीद्वयमुपांशुशब्द-
वाच्यं यदृच्छावशान्मर्त्यलोकगमनाय स्वर्गमनाय चास्त्वित्यर्थः । “ इडया
मर्त्यलोकं पिङ्गलया स्वर्लोकम् ” इति श्रुत्यन्तरात् । यत्र मे मनस्तत्रैव ममा-
न्तर्याम्यस्तु । यामशब्द इकारसंक्षेपः पारोक्ष्याय । ऐन्द्रवायवः प्राज्ञजीवः ।
सुप्तौहीन्द्रः साक्षी । वायुः प्राश्च केवलं जागर्ति । मैत्रावरुणस्तेजसः स्नापन-
जीवः । आत्मैवास्य ज्योतीर्भवतीति मित्रशब्देन ज्योतिः । वरुण आप्यधातुः ।
उभयोरेव स्वप्ननिर्मातृत्वप्रसिद्धेः । आश्विनो गन्धोपलक्षितपार्थिवदेहोपाधिवि-
श्वसंज्ञको जाग्रज्जीवः । सोऽपि तत्रास्तु । अधुनैव मे ब्रह्मलोकाय प्रतिमस्थान-
मस्तु । पुंस्त्वं छान्दसम् । एवं चार्चिरादिमार्गाणामपि यथायथमस्मिन्नेवान्नर्मा-
वान्नास्ति कश्चिद्धेद इत्यवगन्तव्यम् । अथ ययोकनाडीरश्मिसंबन्धाद्ब्रह्मलोकं
गतस्य प्रथमं विरजातिक्रमं विधत्ते शुक्रश्च म इति । अत्र शुक्रशब्देन विरज-
नाम सुधानदी । मन्थीशब्देनाऽऽग्रयणशब्देन चारश्च ण्यश्चार्णवौ प्रसिद्धौ ।
वैश्वदेवो विश्वेषां देवानां निवासभूतः सोमसवननामाऽश्वत्थः । ध्रुवश्चिरायुर्ब्रह्मा
वैश्वानरस्तदीयो मन्त्री ऋतवः षट् ग्रहाः नव प्रसिद्धा मूर्तिमन्तो यत्राऽऽसते ते
सर्वे ममानुकूला भवन्त्वित्यर्थः । अतिशयेन यमनिपमादिना गृह्यन्ते मुनिभिरि-
त्यतिग्राह्याः सर्वे वेदाः शास्त्राणि पुराणानि च षडङ्गसहितानि यत्र मूर्तिधराणि
तानि मम प्रतिभान्वित्यर्थः । ऐन्द्राग्र इन्द्राग्निसंबन्धुपासनामार्गः कर्ममार्गश्च
मम हृदये स्फुरतु । यद्यपि ब्रह्मविदो नेयमिच्छा संभवति तथाऽपि तस्य हृदयज्ञ-
त्वमाशासितमित्यविरोधः । वैश्वदेवस्तु तदुपलक्षितः पञ्चमहायज्ञः । इतः परं मरु-
त्वत्याद्या व्युत्क्रमेण पञ्चविद्याः । यथा मरुत्वती स्थापत्यविद्या सा च मत्सर-
जयालभ्यते । माहेन्दी पर्जन्यविद्या मोहजयात् । अदितिर्ज्योतीर्विद्या लोभज-
यात् । सावित्री, आयुर्विद्या करोधजयात् । सरस्वाती ब्रह्मविद्या कामजयाल-
भ्यते । तदभिमानिनो देवा मरुत्वतीयादिशब्देनोच्यन्ते । पौष्णादिशब्देन यथा-

कमं ब्रह्मचर्यगृहाश्रमसंन्यासा निगदिता ज्ञातव्याः । तत्र पुष्पाति तपःप्रभाव-
मिति पौष्णः । पत्नीवतोऽयं पात्नीवतः । हरिणा योजयतीति हरियोजन इति
व्युत्पत्तिसिद्धाः ॥ ७ ॥

इति चमकभाष्ये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

एवं सप्तमे ब्राह्मलौकिकां गतिमभिधाय सद्योमुमुक्षादेहविलापने भावनाविशेषं
विधत्ते—

इधमश्च मे बर्हिश्च मे वेदिश्च मे घिष्णि-
याश्च मे सुचश्च मे चमसाश्च मे ग्रावा-
णश्च मे स्वरवश्च म उपरवाश्च मे धिर-
वणे च मे द्रोणकलशश्च मे वायव्यानि
च मे पूतभूच्च म आवनीयश्च म आ-
ग्नीध्रं च मे हविर्धानं च मे गृहाश्च मे
सदश्च मे पुरोडाशाश्च मे पचताश्च मेऽव-
भूतश्च मे स्वगाकारश्च मे ॥ ८ ॥

प्रत्यगभिन्नपरमात्मतामभिप्रेक्ष्योपमं देहोऽयमिधमस्थाने भूयात् । लोमानि
बर्हीषि । वक्षो वेदिः । घिष्णिषाः प्राणाः सुचश्च ज्ञानेन्द्रियाणि । चमसाः
कर्मेन्द्रियाणि । ग्रावाणोऽस्थीणि । स्वरवो देहच्छिद्राणि । उपस्वाः शिरःकपा-
लानि । अधिषवणे स्मरोदयशास्त्रप्रसिद्धौ चन्द्रसूर्यस्वरौ । द्रोणकलशो योग-
शास्त्रप्रसिद्धः कण्ठकूपः । “ कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ” इति पातञ्जल-
सूत्रात् । वायव्यानि वायुपरिणामविशेषा हंसोपनिषद्गुक्ता दश स्वराः । पूतभूत्
पृतं विभर्तीति पूतभूत् । ऋतंभरा प्रज्ञा योगशास्त्रप्रसिद्धा । आवीयन्ते नाना-
विषया अस्मिन्नित्याधवनयिः । ओजःसंज्ञको मनोधातुः । अग्निं चित्पकाशं
धरतीत्याग्नीध्रम् । शुक्रसंज्ञको बुद्धिधातुः । हविः स्मरणसंकारं धत्ते तद्धवि-
र्धानम् । सहःसंज्ञकश्चित्तधातुः । गृह्यन्त इति गृहा विषयाः शब्दादयः सद-
हृदयस्थानम् । पुरोडाशाः कामादयो नानाजातीयाः । काम आज्यं मन्थुः पशु

रित्यादिश्रुत्यन्तरात् । पचतास्तमआद्याः पञ्चाविद्यावृत्तयः । नाकनयेतपदादि-
 ष्विव जीवा आभिरिति व्युत्पत्तेः । अवभृथ इडापिङ्गलासुषुम्नासंगमे प्रयागारूपे
 यज्ञान्तिमस्नानम् । तदुक्तं हठप्रदीपिकायां—“ सुषुम्ना परमा गङ्गा पिङ्गला तु
 सरस्वती । यमुनेडा तत्प्रयागे स्नानं योगिसुदुर्लभम् ॥ इति । स्वगाकारः सम-
 र्पणम् । “ स्वगाकृता वै पशवः ” इत्यादौ तथा दर्शनात् । ततश्च देहादि
 सर्वमिदं वस्तुजातं प्रत्यगभिन्नपरमानन्दे विलीयतामिति प्रधट्टकार्थः प्रत्येकस्मि-
 न्मेशब्दश्चिज्जडसंबन्धदाढ्यद्योतनाय ॥ ८ ॥

इति चमकभाष्येऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

एवं व्याष्टिदेहं विलाप्य समष्टिविराड्देहमपि प्रत्यगभिन्नपरमानन्दे विलापयि-
 तुमाशास्ते—

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽकंश्च मे सूर्यश्च मे
 प्राणश्च मेऽश्वमेघश्च मे पृथिवी च मेऽ-
 दितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मे शक्ररी-
 रङ्गुलंयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्तामृ-
 कचं मे सामं च मे स्तोमश्च मे यजुंश्च मे
 दीक्षा च मे तपश्च म क्रवुश्च मे व्रतं च
 मेऽहोरात्रयोर्वृष्ट्या बृहद्रथन्तरे च मे य-
 ज्ञेन कल्पेताम् ॥ ९ ॥

ननु विरुद्धमेतत्—पारमेश्वरो हि विराड्देहो जीवेन विलापयितव्य इति ।
 नैव विरोधः । जीवात्मन एवावस्थाभेदेनेश्वरत्वात् । तदक्तमाचार्यै—“ यथा चेतन
 आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः । अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ”
 इति । ततश्च कूटस्थात्मनि व्याष्टिदेहस्य साभासस्येव जगतोऽपि तत्रैवाऽऽरोपणात् ।
 मरमात्मनस्तु केवल विवर्ताधिष्ठानतया रज्ज्वा इव सर्पेण न कश्चिन्मिथ्याभूतेन
 जगता संबन्ध इति न कश्चिद्विरोधः : द्विविन्नो ह्यारोपः । ज्ञातोऽज्ञातश्च ।
 तत्राऽऽद्यः प्रत्यगात्मनि परः परात्मनीत्यवधेयम् । अग्निश्च म इति । अद्यन्ते ना-

नाविषया अस्मिन्नित्यग्निः स्वर्गलोकः, धर्मवत्संतापकत्वाद्धर्मो नरकः । अरं शीघ्रं
कं सूत्रं यास्मिन्सोऽरक इति वक्तव्ये रेषसंश्लेषः पारोक्ष्याय । तादृशो ब्रह्मलो-
कः । सूर्यः प्रसिद्ध आदित्यो योऽयं दृश्यते । प्राणो जगत्प्राणो व्यापको ब्रह्म-
वायुः । अश्वमेधः कामजयः । पृथिवी द्विविधा दितिश्चादितिश्च । यस्यामनार्य-
लोका वर्तन्ते सा दितिः । सैवादितिर्यस्यामनार्यलोका वर्तन्ते भरतखण्डादिः । तदु-
भयसहिता पृथिवी सर्वसाधारणी समुद्रमहागिर्याद्याधारभूता । द्यौरन्तरिक्षं तत्रैव
शक्तयोऽङ्गुल्यो दिशश्चेति । अजवीथ्यो नागवीथ्यो गजवीथ्यश्चेति यथाक्रमं
तारापथास्ते सर्वेऽपि ज्ञानयज्ञेन कल्पन्तां परे ब्रह्मणि मयि लीयन्तामित्यर्थः ।
ऋक्सामनी प्रसिद्धे । स्तोमो मन्त्रस्तोमोऽथर्ववेदप्रसिद्धः । यजुर्वेदः । दीक्षा
वेदाध्ययनाथ ब्रह्मचर्यादिनियमः । तपस्तत्त्वज्ञानार्थमैकाग्र्यम् ऋतुरुपासनार्थं
श्रवणादिक्रिया । व्रतमग्निहोत्रादिसिद्धयर्थं मेखलादि । अहोरात्रयोः सततवृ-
ष्ट्यर्थं बृहद्रथन्तरे तत्संज्ञकसामनी । तदेतत्सर्वं यज्ञेन कल्पतामिति पूर्ववत्
॥ ९ ॥

इति चमकभाषणे नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

एवं नवमे समष्टिव्यष्टिदेहयौर्विलापनं निरुच्यथ दशमे रोगारोग्यदेवतानां
विलापनमुच्यते—

गर्भाश्च मे वत्साश्च मे त्र्यविश्च मे त्र्यवी
च मे दित्यवाद् च मे दित्यौही च मे प-
ञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे
त्रिवत्सा च मे तुर्यवाद् च मे तुर्यौही च
मे षष्ठवाच्च मे षष्ठौही च म उक्षा च मे
वशा च म ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनवान्
च मे धेनुश्च म आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो
यज्ञेन कल्पत मपानो यज्ञेन कल्पतां व्यानो

यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं
 यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतां वाग्य-
 ज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पतां यज्ञो
 यज्ञेन कल्पताम् ॥ १० ॥

गर्भे देहस्थाभ्यन्तरे तिष्ठन्तीति गर्भाः प्रसुप्तारोगाः । तदुक्तं सुश्रुते—“ देह-
 स्थाभ्यन्तरे गूढा गर्भा इव सुसंयताः । तिष्ठन्ति वासनात्मानो रोगाः प्रारब्धसं-
 भवाः ॥ १ ॥ यदा ते संपबुध्यन्ते फलाभिमुखकर्मणा । उत्तिष्ठन्ति क्षुधार्तास्ते
 भवन्ति शिशुका इव ॥ २ ॥ भेदो मज्जा वसा मांसं रुधिरं शुक्रमेव च । अ-
 दन्ति रुमगो भूत्वा नानारूपाः सभन्ततः ॥ ३ ॥ इति । तथा चायमर्थः—“ इदं
 शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ” इत्युक्तीत्या महाक्षेत्रमिदं शरीरं रोगाणामा-
 रोग्याणां च । सन्ति खलु तत्र नानाजातीयरोगबीजान्यारोग्यबीजानि च विषकृ-
 दाण्वमृतरूपाणि च । तानि च जागरे कृमिरूपाणि रोगाद्यारम्भकाणि स्वप्नादौ
 घोरसात्त्विकदेवतारूपेणोपलभ्यन्ते । तथा च स्वमाध्यायविद आचक्षते—“ कृष्णा-
 म्बरधरा नारी कृष्णगन्धानुलेपना । अवगूहति यं स्वप्ने मृत्युं तस्य विनिर्दिशेत् ।
 शुक्लाम्बरधरा नारी शुक्लगन्धानुलेपना । अवगूहति यं स्वप्ने तस्य श्रीः सर्वतो-
 मुखी ” इत्यादिना । त्रिविधं हि तासां रूपं स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति । तत्र स्थूलं
 कृम्यादिरूपं सूक्ष्मं स्वप्नादावुपलभमानं परं षामनात्मकम् । तत्र यदा घोररुमयोऽ-
 तिसारादिरोगमारभन्ते पापकर्मपेरितास्तदैव फलाभिमुखेन पुण्यकर्मणा पेरितास्त-
 त्पतिपक्षाः शुभकृत्यस्तान्निघ्नन्ति सगी कुर्वन्ति च स्वान्तर्गतसुधया विषदोषं च
 शमयन्ति । इदं स्थूलदेहविषयम् । सूक्ष्मदेहेऽपि शुभाशुभरूपेण वासनाद्वयं ज्ञाना-
 ज्ञानरूपेण कारणशरीरे चेत्यवधेयम् । एवं सर्वस्मिन्नुभयरूपतामभिप्रेत्य देवासुराः
 संयत्ता आसन्नित्याद्यर्थवादाः प्रवृत्ताः । वत्साः प्रबुद्धरोगाः । उभयेऽप्येते स्थूल-
 शरीरे तिष्ठन्तीति प्रसिद्धतरम् । इतः परं “ भूभिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धि-
 रेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ” इत्युक्ताष्टविधप्रकृतेः स्त्रीपुरु-
 षेण द्वेविध्यमाह । तत्र स्त्रीरूपा प्रकृतिसरोग्यकरी पुंरूपा रोगकरीति ज्ञेयम् ।
 अविस्त्रिविधा पृथिवी । यस्यां देवा मनुष्याः पितरस्तिष्ठन्ति । न्यवी पुनस्त्रिविधो

भागः पुंरूपः इव सस्यविशेषाद्यनुत्पत्तेः । तस्मिन्सुरा रक्षांसि पिशाचा वसन्ति ।
तथा च श्रुतिः—“ देवा मनुष्याः पितरस्तेऽन्यत आसन्नसुरा रक्षांसि पिशाचा-
स्तेऽन्यतः ” इत्यादि । आदितिः पुनर्वसुनक्षत्रमदित्यं तत्प्रभृतिनक्षत्रवर्हति जगद्या-
त्रामित्यादित्यवाट् । जलरूपा देवता । साऽपि शान्ताऽशान्तेति द्विविधा । तत्र रु-
धिरकरकाविद्युत्पातादिरहिता शान्ता, तद्विपरीताऽशान्ता । सा दित्यौहीशब्देनो-
च्यते । पुंस्त्वं पूर्ववत्कार्यविशेषाभावाद्घातकत्वाच्च । तथा च श्रुतिः—तदेतद्यजुर्न
ब्रूयाद् दिव्या आपो शान्ता इमं लोकमागच्छेयुः ” इत्यादिः । एवमनलोऽपि
प्राणापानादिभेदेन पञ्चाविः पञ्चधा । आभ्यन्तरो बाह्यश्च । पूर्वदिश्यः प्राणः ।
अपरदिश्योऽपान इत्यादिभेदात् । अत एव श्रुतिः “ पुरोवातो वर्षजिन्वरावृ-
त्स्वाहा ” इत्यादिभेदादव्याचष्टे । स एव विविधोत्पातकारी पञ्चावी पञ्चप्रकारः ।
तथा चोक्तम्—“ तीरमञ्जस्तल्लत्पाटी चक्रवातस्तृतीयकः । रोगवाही चतुर्थः स्या-
त्तथोल्मुकपिशाचकः ” इति । पुंस्त्वं प्राग्वत् । त्रयाणां लोकानां वत्से बक्षसिव
वर्तमानः सूर्यस्त्रिवत्सः । तस्यैव शक्तिश्चन्द्ररूपा त्रिवत्सा वनस्पत्यौषध्यादिहित-
करी । तद्विपरीतः सूर्यः । अत्र पाठकमादर्थक्रमो बलीय इति न्यायेन तेजस उ-
त्तरनिपातो न विरुध्यते । एवं पुंरूपायाः स्त्रीरूपायाः प्रकृतेश्च पूर्वपरनिपातः ।
तुर्थं ब्रह्म वहतीति तुर्थवाङ् गगनं हार्दाकाशं तुर्थौही भूताकाशं तदावरकम् । तथा
च श्रुतिः—एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेत्यादिः । मनोऽपि
द्विविधं शुभमशुभं चेति । तत्र पष्ठैः प्रेष्टार्विषमैर्वा बाह्यते वशी क्रियत इति पष्ठ-
वाट्, अशुभं मनः । पष्ठांस्तानेव विषयान्वशी करोतीति पष्ठौही शुभं मनः ।
तथा चोक्तम्—“ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ” इति । उक्षा
बलीवद्वदशो बुद्धिस्थचिदाभासः । अत एव सा बुद्धिरपि वशा बन्ध्या नाद्यापि
ब्रह्मविद्यां प्रसूयते । अहंकारस्त्वृषभो बालबलीवर्दः । वेहद् बालधेनुः । अनद्वान्
सकलब्रह्माण्डधुरं वोढुं समर्थः प्रत्यगात्मा । धेनुर्ब्रह्मविद्या—उपह्वये सदुषां धेनु
मेतामित्यादौ विद्यायां धेनुशब्दप्रयोगदर्शनात् । इयं नवमी परा प्रकृतिः । तदुक्तं
गीतासु “ अपरेयाभिस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां महाबाहो ययदं
धार्यते जगत् ” इति । तदेत्सर्वं यज्ञेन कल्पतामित्यन्वयः । तत्र सर्वस्य भूतजा-

तस्य प्रत्यगात्मानि लये सत्यपि कथं तल्लय उपपद्यत इति चेत्परमात्मना सहैकत्व-
ज्ञानमित्यवेहि । आयुरिति । मयाऽऽयुरप्यवशिष्टं यदस्ति तदपि यज्ञेन कल्पतां
समाप्यताम् । विरक्तस्य न किमप्यायुषा कृत्यमस्तीति भावः । प्राणाद्या वागन्ता-
स्तत्तदभिमामिन्यो देवताः । आत्मा च तदाधारभूतो देहः । यज्ञो यजनात्मिका
क्रिया । तदुभयमपि प्रत्यगभिन्नपरमानन्दे विलीयतामित्यर्थः ॥ १० ॥

इति चमकभाष्ये दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

एवं दशमे सर्वोपसंहारमभिधाय न चानिष्टे समापयेदिति न्यायमनुसृत्य नि-
र्विकल्पे वस्तुन्यध्यारोपप्रकारमाह—

एकां च मे तिस्रश्च मे पञ्च मे सप्त च मे
नवं च म एकादश च मे त्रयोदश च मे
पञ्चदश च मे सप्तदश च मे नवदश च
म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे
पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नव-
विंशतिश्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिं-
शच्च मे चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च
मे षोडश च मे विंशतिश्च मे चतुर्विं-
शतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च
मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे
चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वरिंशच्च मे
वाजश्च प्रसवश्चाजश्च क्रतुश्च सुवश्च
मूर्धा च व्यश्रियश्चाऽऽन्त्यायनश्चान्त्य-
श्च भौवनश्च भुवनश्चाधिपतिश्च
॥ १ ॥

सकलजगदुपादानमेकैव प्रकृतिः पूर्वमासीत् । “ एकैवाहं जगत्पत्र द्विविधा
का प्रमापरा । पश्येता दुष्ट मध्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ” इति मार्कण्डेयपुरा
णोक्तेः । ततस्तिस्त्रो गुणत्रयस्त्रपिण्यो देवतास्ता मग प्रसन्नाः सन्तिवति सर्वत्रा-
न्वयः । ताम्यश्च पञ्च महाभूतानि तेभ्यश्चापञ्चीकृत्येभ्यो ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धि
श्चेति सप्त संजातानि । तेभ्य एव पञ्चीकृत्येभ्यो नवद्वारोपलक्षितस्थूलदेहः । तत्र
दश प्राणास्तदाधारभूता सुषुम्ना चैका । एवमेकादशभूतसत्त्वांशेभ्यस्त्रयोदश
देवताः । करणानां पुण्या युगंधरा शङ्खस्त्रिनीत्याद्याः श्रोत्रादिनाड्यश्चतुर्दश
सुषुम्ना पञ्चदशीत्येवं पञ्चदश । सप्तदश लिङ्गशरीरावयवाः । नवदश संजी-
वनी व्रणविरोपिणी व्रणघ्नी सहदेवी ब्राह्मी मुण्डीत्याद्या एकोनविंशतिर्हौषधयो
नागार्जुनतन्त्रादौ प्रसिद्धाः । एकविंशतिर्मर्माणि वैद्यकप्रसिद्धानि । ज्वरातिसार-
पाण्डुक्षयाद्याखयोविंशतिर्महारोगाः । उर्वशीतिळात्तमासुकेशीमञ्जुघोषापूर्वाचिति
रम्भामेनकाप्रम्लोचाद्याः पञ्चविंशतिः प्रसिद्धा अप्सरसस्ताः स्वर्गं इव देहेऽपि
तिष्ठन्ति । तथा हि—पूर्वाचितिश्चितं बुद्धिस्तिलोत्तमा मन उर्वशी आविद्या रम्भा
परोक्षविद्या मेनका तत्कन्या गौरी अपरोक्षविद्येति । श्रोत्रं गञ्जुघोषा त्वगनु-
म्लोचा चक्षुः प्रम्लोचा रसनं सुकेशी घ्राणं सुरभिला वाक् वाग्वादिनी सपाणि
हृस्तेन्द्रियं श्यामला पादेन्द्रियस्य सुपेशा पायुरिन्द्रियस्य सुभगा भवस्येत्यादि
योगलतिकायां विस्तरः । चित्रसेनविश्वावसुनारदाद्या गन्धर्वाः सप्तविंशतिः । वा
युर्वा त्वा मनुर्वा त्वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिरिति श्रुत्यन्तरात् । ज्योतिष्मत्याद्या
एकोनविंशद्विद्युदेवताः कृत्याशब्दवाच्याः श्रुतिप्रसिद्धाः । तथा च श्रुतिः—
“ ज्योतिष्मतीं त्वा सादयामि ज्योतिर्विदं त्वा सादयामि ” इत्याद्यनुवाकरूपाः ।
एकविंशद्भुवनानि । तद्यथा—भूर्भुवरादिस्वर्गलोकान्ताः सप्त अतलादिपातालान्ताः
सप्त वैकुण्ठलोको राधालोको गोळोको मणिद्वीपं महाकालपुरं शिवपुरं गणेशलोक-
श्चेति सप्तोपस्वर्गाः । शयोध्या मथुरा मायेत्याद्याः सप्त भूस्वर्गाः । कैलासो मानसं
मेरुश्चेति ब्रह्मलोकावान्तरभेदाः । एवमेकविंशत् । तथा—अष्टौ वसव एकादश
रुद्रा द्वादशाऽऽदित्या अधिनौ प्रजापतिस्त्रयस्त्रिंशदेवताः । एवं विषमाङ्गैर्देवच्छ-
न्दो विस्तरशोऽभिधाय मनुष्यच्छन्दोविकल्पमाह—चतस्र इत्यादिना । तथा च

श्रूयते—“ एका च मे तिस्रश्च म इत्याह देवच्छन्दसमेका च तिस्रश्च मनुष्यच्छ-
न्दसं चतस्रश्चाष्टौ च ” इत्यादि । तत्र धर्मार्थकाममोक्षविद्याश्चतस्रः । चत्वारो
वेदाश्चत्वार उपवेदाश्चेत्यष्टौ । षडङ्गानि षट् शास्त्राणीति द्वादश । षोडश महा-
विद्याः सिद्धिरूपाः । तद्यथा—दूरश्रवणदूरदर्शनाद्याः । पञ्च ज्ञानेन्द्रियसिद्धयः ।
वाक्सिद्धिरप्रतिहतर्गतिर्दूरग्रहणमित्याद्याः पञ्च कर्मेन्द्रियसिद्धयः । स्थापत्यावेद्या
पर्जन्यविद्या ज्योतिर्विद्याऽऽयुर्विद्या परोक्षब्रह्मविद्या चेति पञ्च द्विविधमनाश्चितबु-
द्ध्यहंकाराणां यथाक्रमं ज्ञेयाः । अपरोक्षब्रह्मविद्या तु महत्तत्त्वस्येत्येवं षोडश ।
महाभूतानि स्थलसूक्ष्मभेदेन दश । विषया अपि स्थलसूक्ष्मभेदेन दशेत्येवं विंश-
तिः । चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रसिद्धानि । अष्टाविंशतिस्तिरश्वां भेदा गौरजो महिषः
रुष्ण इत्यादिना भागवतादौ प्रसिद्धाः । अष्टविधो देवसर्मः । षड्विधः स्थावर-
सर्मः । कौमारमानुषसर्गौ द्वौ । ऐन्द्रियसर्गो दशविधो ज्ञानक्रियात्मकः, अहंकार-
स्त्रिविधस्त्रयो गुणाश्चेति द्वाविंशत् । अथवा किमनेस क्लेशेन प्रकारान्तरेणोपपाद-
यामः । चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री । अष्टाविंशत्यक्षरा उज्जिक् । षट्त्रिंशदक्षरा
बृहती । चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् । अष्टाचत्वारिंशद-
क्षरा जगती । शेषाणामत्रैवान्तर्भावः । एतेषां च मनोमयत्वात्तल्लये मनसोऽपि लयः
स्यादिवि भावः । वाजाद्यधिपत्यन्ता द्वादशाऽऽदित्याः पिण्डब्रह्माण्डयोः समानाः ।
तत्र पिण्डे पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि [पञ्च कर्मेन्द्रियाणि] मनो बुद्धिश्चेति द्वादश । ते
सर्वेऽपि यज्ञेन कल्पन्तामित्यर्थः ।

इति चमकभाष्य एकादशोऽनुवाकः ॥ ११ ॥

अथास्य शतरुद्रीयस्य शान्तिपाठोऽभिधीमते—

इडा देवहर्मनुर्यज्ञनीर्बृहस्पतिरुक्थां मदानि
शसिषद्विष्वेदेवाः सूक्तवाचः पृथिवि
मातर्मा मां हिंसीर्मधुं मनिष्ये मधुं जानि-
ष्ये मधुं वक्ष्यामि मधुं वादिष्यामि मधुमतीं

देवेभ्यो वाचमुद्यासः शुश्रूषेण्यां मनुष्ये-
भ्यस्तं मां देवा अवन्तु शोभायै पितरोऽनु-
मदन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इडा गोरूपिणी ब्रह्मविद्या । सा च स्वसत्तया देवाह्वानकरत्वात् देवहृतिरि-
त्युच्यते । इडे रन्ते दिते सरस्वतीत्यादिमन्त्रलिङ्गात् । “ गायन्तं त्रापसे यस्मा-
द्वायत्री त्वं प्रतिष्ठिता ” इति स्मृतेः । ब्रह्मगन्धर्वा अवदन्नगायन्देवाः ‘ सा
देवान्गायत उपावर्तते ’ इत्यादिश्रुतेश्च । तथा मनुर्मन्त्ररूपा वाग्देवता । सा च
कर्ममार्गोपदेशकत्वाद्यज्ञं नयति प्रापयतीति यज्ञनीः, इत्युच्यते । तथा ब्रह्म वै
देवानां बृहस्पतिरिति श्रुत्या प्रतिपादितः कर्मसाक्षी परमेश्वरः । द्वितीयः स्वप्न-
काशपरमानन्दरूपः साक्षी प्रत्यगात्मा तु तत्पुरुषशब्देन व्यवहियते । तत्त्वौपनिषदं
पुरुषं पृच्छामीति प्रसिद्धं तं पुरुषम् । उक्त्यामदानि कर्मजन्मानि सुखानि शशस्ति-
षत्प्रतिपादयन्नास्ते । ये च सूक्तवाचः शोभनवाचस्तदीयं भद्रमाशंसमाना विश्वे-
देवाः पूर्वोक्तदेवतासहितविश्वेदेवा मां मा हिंसीष्ट । तथा हे पृथिवि मातः मां
मा हिंसीः किमित्येवमस्माभिः कार्यमित्याशङ्कामाह—अहं तावद्युष्माकं मधु
मधुरं स्वरूपं मनिष्ये मनसा चिन्तयिष्ये । तथा मधु मधुरं युष्माकं स्तोत्रं जनि-
ष्ये जनयिष्ये । अहं स्वतो मधु वक्ष्याम्यन्यानाति स्वजनान्मधु वदिष्यामि । तथा
मधुमतीं हविर्युक्तामेव वाचं कर्माभिमानिभ्यो देवेभ्यो वाचमुद्यासमुद्यच्छे न तु
रिक्तामित्यर्थः । मनुष्येभ्यस्तु सुश्रेण्यां श्रोतुं योग्यां यथार्थमेव वाचमुद्यासमु-
द्यच्छे न तु मृषामूतामित्यर्थः । एवं यथोक्तकर्तारं तं मां देवा अवन्तु रक्षन्तु
शोभायै जगति यथाऽहं कीर्त्यादिना शोभिष्ये तथा पितरोऽप्यनुमदन्त्वनुमोद-
न्ताम् । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिवचनं शिष्योपदेशार्थम् ।

रसभूनागाब्जाङ्कैर्गणिते श्रीशालिवाहनस्य शके ।

प्राप्तेऽथ हेमलम्बिनि नामानि संवत्सरे वसन्तर्तौ ॥ १ ॥

माधवमासस्यऽसितपक्षे ऋक्षे शुभे त्रयोदश्याम् ।

मन्ददिने प्रातरिदं पुस्तकमभवाद्विलिख्य संपूर्णम् ॥ २ ॥

गुरुसदननिवासी साहकरीत्युपाह्वः

शुभतरहदनन्तः पाण्डुरङ्गाङ्गजातः ।

विरचितमतिधीभिर्विष्णुनामाभिधेयै-

गुंभिरलिखदेतद्गुद्रभाष्यं समग्रम् ॥ ३ ॥

इति श्रीविष्णुसूरीन्द्रविरचितः शतरुद्रीयशान्तिपाठभाष्यानुवाकः ।

इति श्रीरुद्रभाष्यं संपूर्णम् ॥